संक्षिप्त कर्मयोग

गोपाल दामोदर तामसकर

संक्षिप्त कर्मयोग

अनुवादक

गोपाल दामोदर तामसकर, एम० ए०, एल० टी०

प्रकाशक

इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग

प्रथम संस्करण] सन् १९२९ ई० [मूल्य ।।।)

अनुवादक की प्रस्तावना

एक शिक्षक के कहने से मैंने ई० स० १९०५ से गीता का पाठ करना आरम्भ किया। कुछ दिनों तक रोज़ एक ही अध्याय, फिर तीन अध्याय, फिर छः अध्याय, फिर रोज़ नौ अध्याय, पढ़ने लगा। उस समय पहले पहल संस्कृत पढ़ना आरम्भ किया था। इस कारण गीता के तत्त्वों को समझना सरल न था। तथापि न जाने क्यों उससे भी पहले मेरी यह भावना बन गई थी कि जीवन कर्मयोग-मूलक है और यह संसार कर्मक्षेत्र है, यहाँ हमें यथाशक्ति उत्तम कर्म ही करना चाहिए। इस भावना के वश में कभी कभी तुकाराम जैसे संसार के प्रति उदासीन अथवा संसार छोड़ कर केवल निज आत्मा की चरम उन्नति में लगे हुए साधु-पुरुषों को 'स्वार्थी' कहा करता था और रामदास जैसे लोक-हित-कर्त्ताओं की स्तुति करता था। मेरी इस कल्पना से कई लोग सहमत न होंगे, परन्तु उस समय मेरे सिर में यह कल्पना थी अवश्य; और इस कारण एक मित्र से इस विषय पर मेरे वाग्युद्ध भी हो जाते थे। गीता के पठन से धीरे धीरे मेरी यह कल्पना दृढ़ ही होती गई। परन्तु गीता के गूढ़ तत्त्वों को जान लेना सरल न था। एक बार सिर में समा गया कि जिस ग्रन्थ को अच्छी तरह समझ नहीं सकते, उसे तोते की नाईं रोज़ पढ़ लेने से

क्या लाभ होगा ? होगया, गीता का पाठ बंद कर दिया। तथापि अब तक गीता को इतनी बार पढ़ चुका था कि कई श्लोक कंठस्थ हो गये थे। इस कारण उनका प्रभाव मन पर बना ही रहा और समय समय पर उनका मनन भी होते जाता था। पठन का समय जाकर अब मनन का समय आगया। इस मनन से उपर्युक्त कल्पना अधिकाधिक दृढ़ ही होती जाती थी। इसी बीच १९१४ ईसवी में श्रीकबाड़े शास्त्री कृत 'विवेक-वाणी अथवा गीतार्थ-बोध-सार' नामक पुस्तक पढ़ी। अपने बहुतेरे विचारों को इस पुस्तक में पाकर तुरन्त इच्छा हुई कि इस पुस्तक का हिन्दी में अनुवाद हो। दूसरे वर्ष अवकाश मिला और अनुवाद तैयार हो गया। परन्तु किसी न किसी कारण से वह आज तक प्रकाशित न हो सका। पुस्तक की उत्तमता इसी बात से प्रकट है कि 'श्रीमद्भगवद्गीतारहस्य' जैसे असामान्य ग्रंथ के कर्ता लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक ने इसे पढ़कर स्तुतिरूप से अच्छी प्रस्तावना लिखी। उसी साल यह बड़ा ग्रंथ भी छप गया। इसके पश्चात् हिन्दी, मराठी तथा अँगरेज़ी में गीता पर अनेक टीकात्मक ग्रंथ छपे। गीता के कई नये नये संस्करण भी निकले। और उनका अच्छा प्रचार भी हुआ। तथापि इस छोटी सी पुस्तक में जिस सरल और मनोरंजक ढंग से गीता के तत्त्वों का प्रतिपादन किया है, वैसा विवेचन अन्यत्र क्वचित्‌ही देख पड़ेगा। इस पुस्तक में गीता के मूलतत्त्वों का हलका-सा चटपटा भोजन कराया गया

है। इसलिए आशा है कि इसे पढ़ने की इच्छा अनेकों को होगी। मेरे उपर्युक्त कथन से कोई यह न समझे कि इस पुस्तक के छोटे मोटे सभी विचारों से मैं सहमत हूँ। मैं इतना ही कह सकता हूँ कि इसके बहुतेरे विचारों से मेरे मत मिलते-जुलते हैं। अनुवादित पुस्तक के सभी विचार अनुवादक के सिर पर मढ़ना ठीक न होगा।

—अनुवादक

विषय-सूची
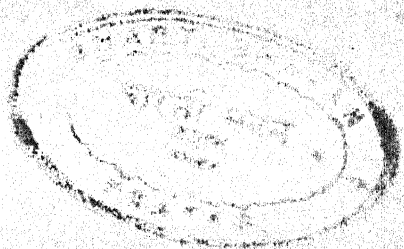
विवेकवाणी अथवा संक्षिप्त कर्मयोग

पहला परिच्छेद

पर्वत पर

सर्वशक्तिमान् प्रभु की सृष्टि की अगम्य और अति मनोहर शोभा देखते देखते मैं पर्वतश्रेणी के सौम्य परन्तु विषम भू-प्रदेश का चढ़ाव चढ़ने लगा। सामने दीखनेवाली वस्तुओं का प्रतिबिम्ब नेत्रों-द्वारा अन्त:करण पर पड़ता जाता था। ढोंगी लोगों से भरे हुए प्रदेश का तिरस्कार आने के कारण और हिमालय का अतुल-सृष्टि-सौन्दर्यमय और जनोपद्रव-रहित साम्राज्य-प्रदेश देखने की उत्कण्ठा से मैं एक ही दिन में बहुत रास्ता तय कर चुका था। उस प्रवास के श्रम के कारण मेरे अवयव श्रान्त हो गये थे, तथापि इच्छित प्रदेश में पहुँच जाने के कारण अन्त:करण में आनन्द उत्पन्न हुआ था। उससे मैं अपने शरीर का ख़याल भूल गया था, पर यह आनन्द बहुत देर तक न बना रहा, चहुँओर की अप्रतिभ शोभा मेरे अन्त:-करण को बहुत देर तक प्रसन्न न रख सकी। कंकर और कंटक के रास्ते से खुले पैर चलने के कारण वे अब नाज़ुक हो

गये थे । एक भी कंकर अथवा पहाड़ी घास का सिरा चुभने से बैठ जाना पड़ता था । तब मेरी आँखें उस विस्तीर्ण और आश्चर्यमय ईशकृति से उठ कर मेरे रास्ते की ओर लग जाती थीं । इस प्रकार धीरे धीरे मैं और थोड़ा चढ़ाव चढ़ गया । अब तो भूख ने ख़ूब सताया । सूर्य सिर पर तपने लगा । मेरे खुले सिर पर धूप बड़े ज़ोर से लगने लगी, इस कारण अपने पास का दुपट्टा सिर पर ले मैंने लपेट लिया और क्षणभर खड़े रह चारों ओर दृष्टि फेंकी तो जिस टेकड़ा पर मैं चढ़ रहा था, उसके सिरे पर एक घनी झाड़ी मुझे दिखाई पड़ी । तब इधर-उधर न देखते ख़ूब ताक़त भर जल्दी जल्दी पैर रखते उस झाड़ी के पास पहुँचने का मन में निश्चय कर मैं आगे बढ़ा । लगभग आधा पौन घण्टा चलने पर मुझे उस अमृतोपम घनी छाया का सेवन करने को मिला और मैं वहाँ घड़ी भर हाथ-पाँव पसार कर पड़ा रहा । कुछ देर तक आँखें लगाकर अचेतन सा लेटा रहा । उस घनी छाया की ठण्ड के कारण मेरी थकावट दूर हुई और मैंने आँखें खोलीं । बीच की अचेतन स्थिति के कारण मैं सब पिछली बातें भूल गया और "मैं कहाँ आया हूँ ? यह अपरिचित प्रदेश कौन सा है ?" इत्यादि अनेक प्रश्न मेरे मन में उद्भूत होने लगे । इस प्रकार कुछ काल आश्चर्य में व्यतीत होने पर मेरी स्मृति जागृत होने लगी । उससे, योगी होने की इच्छा से घर छोड़कर आये समय से हिमालय की इस टेकड़ी पर आने तक का सब इतिहास मेरे ज्ञानचक्षु के
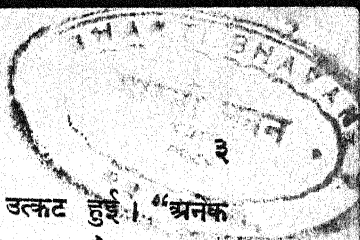
सामने खड़ा हुआ। मेरी उत्कंठा फिर उत्कट हुई। "अनेक ग्रन्थों में लिखे अनुसार इस पर्वतराज की शांत और एकान्त खोह में रहकर अभ्यास के बल योगमार्ग में प्रवीणता प्राप्त किये हुए योगराज क्या मुझे मिलेंगे? क्या उनकी मुझ पर कृपा होगी? और क्या अब तक सहे संकट कुछ भी सफल होंगे?" ऐसे अनेक प्रश्न मेरे आशापूर्ण मन में उठने लगे।

निःसत्व हुए अवयवों ने पेट के द्वारा अपनी फ़र्याद मन रूपी राजा के पास पहुँचाई। तत्काल प्रजावत्सल और न्यायी राजा के समान निज की उन्नति का विचार छोड़ प्रजारक्षण की ओर यह राजा ध्यान देने लगा। नेत्ररूपी प्रधानों ने इस अवधि में सूक्ष्म निरीक्षण से उस टेकड़ी के एक शृंग से उछल कर कूदनेवाले निर्झर की ओर दृष्टि पहुँचाई। उधर जाने का हुक्म शरीर को पैर करने लगे और वे उसे उधर ले गये। मैंने उस निर्झर की एक छोटी सी धार में स्नान किया। सन्ध्या-वन्दन के बाद सूर्य्योपासना की। अपने साथ के गीताग्रन्थ को वन्दन किया, और क्या खाऊँ इस तलाश में लगा। ग्राम-वासियों ने कभी न देखे होंगे ऐसे नाना प्रकार के फलों से लदे हुए झाड़ प्रथम ही दिखलाई पड़े। प्रचण्ड क्षुधा के वश होने के कारण विचार करने को समय था ही कहाँ? फल तोड़ तोड़ जठराग्नि को अर्पण करने लगा और वह फ़र्याद दूर हुई यानी सब अवयव फिर ताज़े हो गये। फल खाने पर और पानी पीने पर कुछ काल तक यह डर मेरे निरुद्योगी मन में

प्रवेश करने लगा कि "कहीं ये फल विषैले तो न होंगे ?" मरने के डर से मेरा मन अस्वस्थ नहीं हुआ, पर इस विचार से मन में भय उत्पन्न हुआ कि इतने कष्ट उठाने पर भी इच्छा पूरी होने से पहले यह देह छोड़नी पड़ेगी। इस विचार को दूर करने के लिएं भगवद्गीता खोल कर पढ़ने लगा, प्रथम ही यह श्लोक पढ़ा:—

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमार यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥ २,१३ ॥

लगभग दो तीन साल पहले अँगरेज़ी पाँचवीं कक्षा से संस्कृत का थोड़ा सा ज्ञान हो जाने के कारण मैंने गीता का पाठ करना प्रारम्भ किया था। तदनन्तर संस्कृत-साहित्य की मधुरता का परिचय पाने पर काव्य, नाटक, चंपू वग़ैरह का अव्याहत व्यासंग किया, व्युत्पत्ति वग़ैरह का अच्छा ज्ञान हो जाने पर गीता के तो मैंने कितने भी पारायण किये थे। इस श्लोक को इसके पहले मैंने कई बार पढ़ा था। बिना अर्थ समझे मैं कभी आगे न बढ़ता था। इस प्रकार आज भी मैं अर्थ करने लगा। ऐसा जान पड़ा कि मन में आज उस श्लोक पर कुछ नया ही प्रकाश पड़ रहा है। "बाल्य, तारुण्य और वार्धक्य ये तीनों अवस्थायें देह को प्राप्त होने पर दूसरी देह प्राप्त होना भी देही की चौथी अवस्था है। इसके लिए (यानी देह-त्याग के लिए) चतुर को मोह उत्पन्न नहीं होता।" "देहिनोऽ

स्मिन्'' इस श्लोक का इस प्रकार मैं अपने मन में अर्थ करने लगा। बाल्य में प्रारम्भ किये कार्य तारुण्य में हम चला सकते हैं, उसी प्रकार तारुण्य में प्रारंभ किये कार्य वार्धक्य में हम चला सकते हैं। फिर इस देह को छोड़ जाने पर अपनी ही चौथी अवस्था में क्या पूर्व-देह में प्रारंभ किये कार्य चालू रखने की हम में शक्ति न रहेगी? इस प्रश्न का उत्तर मेरी मनोदेवता यही देने लगी कि "अवश्य रहेगी"। फिर इस बात का डर रहने का कारण कहाँ है कि मेरा कार्य आधा ही रह जावेगा? इस श्लोक से मुझे आज तक पुनर्जन्म की ही प्रतीति होती थी। पर आज किसी चमत्कारिक स्फूर्ति से इस नये तथ्य का प्रकाश मेरे मन में उदय हुआ कि 'जन्म, मृत्यु और पुनर्जन्म' ये तीनों देही की संलग्न अवस्थायें हैं, और पहले दोनों के बीच के काल में देही जिस सीढ़ी पर खड़ा रहता है उसके आगे की सीढ़ी पर वह तीसरी अवस्था में जाने पर ही चढ़ता है।

इस अर्थ की सहायता से मैं अपनी चिंता दूर कर आनन्दित होने का प्रयत्न करने लगा। पर न जाने क्यों, ज्यों ज्यों मैं अधिक प्रयत्न करता त्यों त्यों मेरा अनभ्यस्त मन विरुद्ध दिशा को ही अधिक जाता और उन फलों के विषैलेपन के विचार से अधिक ही डरने लगता। "जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः" यह तत्त्व माननेवाला मन पुनः पुनः डरे, और 'ध्रुवं जन्म मृतस्य च' इस चरण का अर्थ मेरे मन पर प्रतिबिम्बित न हो, इसका मुझे आश्चर्य होने लगा।

उस दिन शाम तक अवयवों की ऐंठन आदि कुछ भी विकार न दिखाई दिये। तब कहाँ मन को शांतता प्राप्त हुई। तदनन्तर प्रतिदिन त्रिकाल स्नान-सन्ध्या करता, प्रकृति का सौन्दर्य देखता, वन्य फलों से क्षुधा को शांत करता, और गीता का पारायण करता था। स्नान-सन्ध्या का काल छोड़, शेष समय अनियमित रीति से ख़र्च होता था। भूख लगे तब खाना, लहर उठी उधर भटकना, और शेष समय में विचार करना या गीता पढ़ना इस प्रकार इच्छानुसार मैं अपना काल बिताता था।

दिन गिनने की ओर मेरा ध्यान न रहने के कारण मैं नहीं बतला सकता कि इस स्थिति में मेरे कितने दिन बीत गये। रात को वहाँ की प्राकृतिक घास पर लेट जाता, परन्तु वहाँ की प्रचंड सर्दी का प्रतिकार करने के लिए तथा व्याघ्र सिंहादि हिंस्र पशु पास न आवें इस डर से ख़ूब अग्नि प्रज्वलित कर रखता, और सोने के पहले "मुझे किसी योगिराज की भेंट हो" यह प्रार्थना करने को न भूलता था। इस प्रकार अनेक दिन व्यतीत हुए पर एक बहुत महत्त्व का दिन प्राप्त हुआ। उसकी बात मैं आगे बतलाता हूँ।

दूसरा परिच्छेद

क्या देखा ?

अच्छा सबेरा हो गया था। बड़ी प्रचण्ड सर्दी पड़ी थी। चारों ओर ख़ूब अग्नि प्रज्वलित थी, तथापि देह में ठंड भरी ही थी। ऐसी स्थिति में लेटे ही रहना ठीक मालूम होता था। क्योंकि थोड़ी भी हलचल से देह में ठंड भर जाती और फिर उष्णता आने के लिए घड़ी दो घड़ी लग जाती थी। ऐसे समय में मेरी नींद पूरी हो चुकी थी पर पतले दुपट्टे के भीतर से हाथ बाहर निकाल कर और सिर के नीचे की गीता उठा कर पढ़ने की हिम्मत मन में न होती थी। इस कारण मैं इसी स्थिति में पड़ा रहा। पर मन कहाँ एक स्थिति में रहता है ? मन को कहीं कहीं घोड़ा कहा है सो ठीक जँचता है। जिस प्रकार घोड़े को कुछ न कुछ चबाने के लिए सदा चाहिए उसी प्रकार मन को भी कुछ न कुछ विचार आवश्यक ही है। घोड़ा फ़ुर-फ़ुराया कि खाई हुई चीज़ें पच जातीं और नई चीज़ें खाने का दम उसमें आ जाता है, उस प्रकार मन को थोड़ी भी निद्रा का विश्राम मिलने से वह भी निष्क्रिय हो जाता है परन्तु पूर्व विचारों की थकावट दूर हो जाती है, और फिर वह स्वप्नसृष्टि में भी विचारों की इमारतें बनाने को तत्पर रहता है। मेरे

अवयव तो क्रियाहीन थे, पर मन अनेक प्रकार के विचारों की लहरों पर डोल रहा था।

मेरे मन में आया "घर छोड़े बहुत दिन हुए, पर मेरी इच्छा सफल होने के कोई चिह्न दीखते नहीं। इस गिरिराज की अनेकों खोहों में से मेरी दृष्टि में एक भी खोह न आई। मैंने पढ़ा है कि भानु के समान तपस्तेज के मूर्तिस्वरूप योगिराज इस पर्वत पर अनेक रहते हैं। पर इसकी सत्यता मेरे मन में नहीं जँचती। क्या हिमालय में सचमुच ऋषि रहते हैं? या कल्पना के आकाशयान-द्वारा सञ्चार करनेवाले कवियों के ज्ञाननेत्रों को वायु में दीखनेवाले ये चमत्कार ही हैं?" ऐसे प्रश्न मन में आते ही उपन्यासों के नाना वर्णनों का ख़याल आया। स्वर्गीय [यानी इस लोक में कहीं न दिखलाई देने-वाले] प्रेम के वर्णन से ठूँस ठूँस कर भरे हुए आधुनिक काव्य मेरे मन के सामने खड़े हुए। इसमें कुछ शङ्का नहीं कि ये कवि बिना अनुभव की बातें भी अपने काव्यों में लिख जाते हैं। मन में विचार उत्पन्न हुआ कि "आकाश के फूल" "हवा में के क़िले" "देव-कल्प ऋषि" ये सब बातें इन पागल कवियों की कल्पना-सृष्टि ही होगी।

फिर, यहाँ तक आने का श्रम व्यर्थ उठाया! घर से निकलने पर कितने कष्ट सहते सहते यहाँ आया, कितनी ही बार बिना खाये रहना पड़ा, सीधे रास्ते से जाने में कदाचित् कोई परिचित मिल न जाय इस कारण इधर-उधर के घने वनों

को पार करते, बस्ती के स्थानों को छोड़ते, सीधे उत्तरदिशा को प्रवास किया। इन सब बातों का मूर्तिमान् चित्र सिनेमोटोग्राफ के समान मेरी आँखों के सामने दीखने लगा। तत्काल ऐसा मालूम होने लगा कि "इतने प्रयत्न सफल न हों, अनन्य भाव से प्रयत्न करने पर भी सिद्धि न मिले, यह अन्याय की बात है"। ईश्वर को न्यायी कहनेवालों को मैं दोष देने लगा। ईश्वर के अन्यायी कहने को हिचकनेवाले मन में यह भी बात आई कि "कदाचित् कलियुग में तपश्चर्या का फल तत्काल न मिलता हो!" कहीं पढ़ा हुआ यह भी स्मरण हुआ कि "अधिकार के सिवा गुरु की भेंट नहीं होती और उपदेश नहीं प्राप्त होता।" तब मन में आया कि "मेरी तपश्चर्या पूरी न हुई होगी, मुझे अधिकार प्राप्त न हुआ होगा, इस कारण हिमालय के गुप्तस्थान मुझे मिलते नहीं और किसी महायोगी सिद्ध पुरुष की भेंट होती नहीं"। और इससे मन को बुरा भी लगा। पर तब भी मन की शांति नहीं हुई। 'मुझमें योग्यता नहीं है यह अशांति की बात तो है, पर निराश होने का कोई कारण नहीं—कदाचित् सद्गुरु-कृपा और किसी प्रकार से प्राप्त हो जावे।" ऐसे विचार आते ही मैंने मन को कुछ रोक लिया।

अब मन में ठान लिया कि आगे इस पर्वतराज का सूक्ष्म निरीक्षण किया करूँगा, और उठने के बाद किधर जाना इस बात का भी मैंने निश्चय कर लिया। इतने में पूर्व की ओर शब्द हुआ। यह क्या ? बाघ की

भयंकर गर्जना ! इतने नज़दीक ! हाय ! होगया ! सब बातें मन की मन ही में रह गईं ! खून का पानी बन कर शरीर से निकलने लग गया ! देह थरथर काँपने लगी ! विश्वास हो गया कि अब मेरे सौ वर्ष पूरे हो गये ! अब मुझे अपने प्रेम-मय माता-पिता का स्मरण आया । "मुझ पर उनका कितना प्रेम था ! मेरे भाग जाने पर उनकी क्या दशा हुई होगी ? मैं इकलौता लड़का। वह भी नहीं रहा फिर उनके दिन कैसे कटेंगे !!" ये विचार मेरे मन में एकदम घुसे ! माता-पिता के प्रेम का बदला मैंने इस तरह दिया ! हाय ! अब मुझे उनकी क़ीमत ज्ञात होने लगी ! मन ही मन उन्हें अंतिम नमस्कार किया, उनसे क्षमा माँग ली और मन ही मन बहुत देर तक मैं रोता रहा। कुछ देर के बाद मेरे मुँह से बड़े ज़ोर का उसास निकला, उसी समय सिर के पास कुछ खड़खड़ाहट मालूम हुई । तत्काल जान पड़ा कि आख़िरी क्षण पहुँच गया, आँखें लगा लीं और परमेश्वर से प्रार्थना करने लगा कि मेरे मा-बाप मुझे भूल जायँ ।

दो घड़ी बीत गई तब भी बाघ ने मुझ पर छलाँग नहीं मारी, यह देख सच बात जानने की इच्छा से आँखें खोलीं । इस समय सबेरा हो गया था । दुपट्टे के भीतर से बाघ को इधर-उधर देखने लगा, कहीं भी नहीं ! तब हिम्मत करके सिर की ओर निहारने लगा वहाँ भी बाघ नहीं ! तब तो उठ बैठा और दूर तक दृष्टि फेंकी । तब बाघ को धीरे धीरे एक बहुत

घनी झाड़ी की ओर जाते देखा। तत्काल डर का दबाव दूर हो गया, दु:ख जाता रहा, विचारों का प्रवाह बंद हो गया, और इस मुक्ति का मुझे अद्वितीय आनंद होने लगा। हस्तद्वयुक्त होकर उदय पानेवाले सूर्य भगवान् की अनन्य भाव से मैंने स्तुति की। तदनंतर स्नान-संध्यादि क्रिया समाप्त कर गीता पढ़ने लगा। अर्जुनविषादयोग का अध्याय पूर्ण कर दूसरा पढ़ने लगा। उस दिन पढ़ना बड़े सपाटे से चला था। श्लोकार्थ करने में मेरा आनंदित मन समय नहीं बिताना चाहता था। उस समय मैं ज़ोर से पढ़ रहा था। इस कारण दरी-गुफाओं में उसकी प्रतिध्वनि गूँजने लगी। मेरे ही शब्द मेरे ही कान पर बड़े ज़ोर से प्रत्याहत होते थे। निम्न श्लोक मैं बाँचने लगा—

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इंद्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः॥ २,६०॥

"हरंति प्रसभं मन:" यह क्या सुनाई दिया! फिर से बाँचने की इच्छा हुई। एक दो बार पढ़ने पर विचार मन में आया, इंद्रिय-दमन का यत्न करनेवाले योगी के भी मन को उसकी अनिवार्य इंद्रियाँ अपनी ओर खींच ले जाती हैं!" मैंने इंद्रिय-दमन का कुछ भी यत्न किया है? उत्तर के लिए अपने गत काल को निरीक्षण करने लगा। "जब मैं घर में था, उस समय जिस प्रकार खान-पान इत्यादि विषयों के अधीन था,

उसी प्रकार मैं आज भी हूँ—भय, शंका, आनंद, दुःख वग़ैरः मनोविकारों से मैं अभी तक मुक्ति नहीं पाया हूँ। लोगों के बीच बैठना जिस प्रकार नहीं सुहाता, उसी प्रकार यहाँ मैं एकांत में गीता पढ़ रहा हूँ, मेरी दशा में कोई अन्तर नहीं हुआ, जैसा था वैसा ही हूँ। मैंने इंद्रियदमन का कोई प्रयत्न ही नहीं किया। इंद्रिय और मन दोनों इच्छापूर्वक संचार करते थे। फिर कोई आश्चर्य की बात नहीं कि इंद्रियों का मेरे मन पर इतना अधिकार बना है! फिर कौन आश्चर्य की बात है कि मृत्यु का भय मुझे डराता ही रहता है?

प्रयत्नपूर्वक इंद्रियदमन करनेवाले थोड़े बहुत सिद्ध योगियों को भी इंद्रियाँ जब खींच ले जाती हैं और उन्हें विवश कर डालती हैं, तब यत्न न करनेवाले मुझ जैसे पुरुष को इंद्रियाँ उसी प्रकार खींच ले जावें तो कोई आश्चर्य नहीं, और खेद करने का कोई कारण नहीं। मेरे मन की समझ ऐसी हो गई कि जो कुछ है सो स्वभाव-सिद्ध है।

मुझे अपने मन को इन्द्रिय-विषयों से दूर खींच ले जाना चाहिए। ऐसा किये बिना ध्येय में मन तल्लीन न होगा। तल्लीनता के बिना तप का आचरण न होगा। तप के बिना अधिकार प्राप्त न होगा, और उसके बिना गुरु का उपदेश भी न मिलेगा। इस विचार-परंपरा से मेरी अनधिकारिता मुझे ज्ञात हो गई। तब निज की भूल के कारण उस

सर्वसाक्षी को मैंने अन्यायी कहा, इसलिए मेरे मन को दु:ख हुआ और अन्त:करण से मैंने उसकी क्षमा माँगी।

भगवद्गीता के श्लोकों के अर्थ का नया ही प्रकाश मेरे मन में उदय पाने लगा, यह देख उसका कारण ढूँढ़ने लगा। मालूम हुआ कि यह अनुभव का परिणाम है। तब जँचने लगा कि कि अनुभव से ही श्लोकार्थ समझ में आया तो श्लोक समझा सा कहना चाहिए। तुरंत मन में प्रश्न उठा, क्या इसी प्रकार सब श्लोकों का अर्थ अनुभव से बोध हो जावेगा? 'एक जन्म में नहीं, तो अनेक जन्म में उसकी पूर्णता हो जायेगी' इस गीता के उत्तर से मेरे मन को शांति भी प्राप्त हो गई। दूसरा अध्याय सुगमता से पूर्ण किया और थोड़ा भटकने की इच्छा से मैं निकला। एक लम्बा कुरता, एक दुपट्टा, दो लँगोट, एक भगवद्गीता, और एक दियासलाई की डब्बी इतनी ही जेब में रखने लायक़ चीज़ें मेरे पास थीं। इस कारण जब कहीं जाने लगता तो सब सामान साथ में ले जाता था। घूमते-घूमते कोई रम्य स्थान मिल गया और वहीं रहने की इच्छा हुई तो वहीं रह जाता था। फिर लौटने का कौन काम? और फिर कौन बता सकता है कि रास्ता मिल ही जावेगा?

मध्याह्न तक में भटकता रहा। फिर एक झरने के पास स्नान-सन्ध्या से निपट कर बिना किसी शंका के वन्य फल खाये। एक झाड़ के नीचे गीता पढ़ते पड़ा रहा। छठे अध्याय का "उद्धरेदात्मनात्मानं" यह पाँचवाँ श्लोक पढ़ने पर मन में विचार

आया "अपना गुरु आप ही है"। कुछ देर बाद मेरी आँखें लग गई और मन एक स्वप्न देखने लगा। "मैं किसी अत्यंत घनी झाड़ी में घूम रहा हूँ। घूमते-घूमते मैंने एक मनोहर उद्यान देखा। फिर मैं इस खोज में लगा कि इस निर्जन वन में उपवन के समान कृत्रिम शोभा का कार्य किसने किया? मुझे पास ही एक खोह का मुख दिखाई पड़ा। उसमें मैंने बड़ी शीघ्रता से प्रवेश किया। क्योंकि मेरे मन में विचार आया कि यहाँ किसी योगिराज की भेंट से मेरी इच्छा पूर्ण होगी, और इसी कारण मेरे पैर भी शीघ्र शीघ्र चलने लगे। भीतर देखा कि वहाँ कोई नहीं है। अत्यंत निराश हुआ। चारों ओर घूमने लगा, पर कोई न दिखलाई पड़ा। पर भीतर की सुव्यवस्था देख कर ऐसा मालूम हुआ कि वहाँ कोई व्यवहार-पटु चतुर पुरुष अवश्य रहता होगा। खोह के भीतर का भाग बहुत सुशोभित था, पर उसमें मेरा मन न लगा। उस खोह के स्वामी को मैं ढूँढ़ रहा था। जल्द ही मुझे सुनाई दिया कि कोई गा रहा है—

अर्जुन! इस जग में सबसे।
श्रेष्ठ अन्य नहिं योगी से॥ ध्रु०॥

उस गायन का यह प्रथम चरण था। गान का स्वर ज्यों ज्यों ऊँचा होता गया, त्यों त्यों मुझे स्थिरता प्राप्त होती गई। मैं जागने लगा तब भी वैसा ही सुनाई देता था, मैं अच्छी तरह जाग गया तो गाना और भी स्पष्ट सुनाई देने लगा। तत्काल मैं

उठ खड़ा हुआ और जिधर से आवाज़ सुनाई देती थी उधर देखने लगा। ओह! आनन्द से मेरा मन परिपूर्ण हो गया। मेरी आँखें अश्रुपूर्ण हो गईं! और कुछ देर तक मैं अपने आपको भूल गया।

पाठकगण! मैंने वहाँ क्या देखा इसका वर्णन करने की शक्ति न मेरी जिह्वा में है और न मेरी लेखनी में ही है। इसका वर्णन इसी जगह न करके अन्य परिच्छेद में किया जावेगा।

तीसरा परिच्छेद

गीताश्रम

मैंने देखा कि सिर पर भ्रमर के समान काले बालों का मुकुट धारण किये, देह में एक शुभ्र और लंबी कफनी डाले, और पाँव में खड़ाऊँ पहिने एक अत्यन्त तेज:पुंज और सुन्दर मूर्ति मेरी ओर आरही है। हाथ में करताल थी और उसके ताल पर गायन चला हुआ था। मेरी सब इन्द्रियों की शक्ति उस समय कान और आँखों में भरी थी। उस मूर्ति के दर्शन से मेरी आँखें और उस गायन से मेरे कान पवित्र हो रहे थे। शेष सब इन्द्रियाँ बिलकुल स्थिर थीं। गायन का स्वर कर्ण-द्वारा प्रवेश कर मेरे अंत:करण की वृत्ति के साथ लीन हो रहा था। कान और आँखों के सिवा मुझे और कोई इन्द्रिय है या नहीं इसका मुझे ख़याल न था, और उस अकेली मूर्ति को छोड़ चारों ओर और कुछ है या नहीं, इसका मुझे स्मरण न था। वह गायन यह था—

अर्जुन इस जग में सब से।
श्रेष्ठ अन्य नहिं योगी से ॥ ध्रु०. ॥

षट्कर्मों में मग्न धैर्य से हो कर्मी जिस वास्ते।
ज्ञान-कवच ले यदर्थ ज्ञानी षड्रिपु से लड़ जाते ॥१॥

तपोगिरी के विषम शिखर पर पैठ तपस्वी ध्यावें।
जिस कारण ही उसी स्थान से गिर पड़ भी वे जावें ॥२॥
भव्य भजक को, यज्ञकरों को हविर्भाग ज्यों भोगी।
सिद्धतत्त्व यह साधक उनको, इस कारण हो योगी ॥३॥

अन्तिम स्वर वायु में लीन हुआ पर मेरे कानों में उसकी प्रतिध्वनि अभी तक गूँज रही थी। मेरी आशा का सागर इस समय बहुत ऊँचा उठ रहा था। 'इस कारण हो योगी' ये शब्द मुझे अमृत से मधुर जान पड़े। इस समय मेरे मन में आनन्द-दायक विचारों की लहरें उठ रही थीं। सबसे भारी और पहला विचार तो यही था कि परमेश्वर ने आत्मस्वरूप के ज्ञान की प्राप्ति कर देनेवाला और योगमार्ग का दिखलानेवाला योगिराज कृपापूर्वक मेरी ओर भेज दिया है। इसलिए उसके पास से योगमार्ग का पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लेना मेरा कर्तव्य है।

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ॥४, ३४॥

इस श्लोकार्थ का स्मरण होते ही यह स्पष्टतया दीखने लगा कि सद्गुरु के पास से विद्या प्राप्त करने के लिए कौन यत्न-सोपान चढ़ना पड़ेगा। 'नमस्कार, प्रश्न और सेवा' के क्रम का अवलम्बन करने का तत्काल मैंने निश्चय किया। तब, इच्छित प्राप्ति के अपरिमित आनन्द में मेरी 'किंकर्तव्यमूढ़' (क्या करना यह न समझनेवाली) बुद्धि इस विचार से प्रज्वलित हुई। इस प्रज्वलता से कर्त्तव्य का स्मरण आया, कर्त्तव्य का स्मरण

आते ही इंद्रियों को बल प्राप्त हुआ, और उन सबने मिल कर मेरी देह को उस मूर्ति के चरणों पर फेंक दिया। नयनों ने अपने अश्रुजल से उनके चरण धो डाले, और हाथों ने सिर चरणों पर अर्पण कर दिया।

कुछ समय तो मौनावस्था में ही बीत गया। मुझे कुछ ख़याल नहीं है कि उस समय मेरे मन में कुछ विचार चले थे या नहीं। उस समय की केवल एक बात ध्यान में है कि ऊपर से उष्णाश्रु के बिन्दु गिरे। उस महान विभूति का सौहार्द्य देख मैं मन में धन्य धन्य कहने लगा, वे मुझे सराहने लगे, और मेरे मस्तक पर उन्होंने दाहिना हाथ रखा, और बायें हाथ से मेरा दाहिना हाथ धर कर अपनी गंभीर वाणी से बोले "बेटा, उठ"। मुझे मालूम हुआ कि आज मेरा जीवन सफल होगया है। मैं उठ कर खड़ा होगया, पर मेरी आँखें ज़मीन की ही ओर थीं। उन्होंने अपना हाथ मेरी पीठ पर फेरा, और दाहिने हाथ से मेरी ठुड्डी धर कर मेरा सिर ऊपर किया। उस प्रसन्न और मोहक मुख-कमल पर अब मेरी दृष्टि विद्ध होगई। उस समय मुझे वहाँ मुग्ध हास्य दिखलाई पड़ा। मुझमें तो बोलने की शक्ति न रह गई। किसी योगी से भेंट हुई तो मैं उसे अमुक अमुक प्रश्न करूँगा, अपनी भाषा से उसका मन आकर्षित कर लूँगा, और ऐसा ऐसा बोलूँगा, ऐसे जो निश्चय मैंने पहले कर रखे थे, वे सब जाते रहे। उस दयापूर्ण विभूति ने अब मुझे

धैर्य दिया और कहा "बच्चा, बोल, अपने मन के विचार को अब निकल जाने दे"। पर मुझे हिम्मत कहाँ? कुछ भी नहीं समझ पड़ता था कि क्या बोलूँ और कैसे बोलूँ! उस दृष्टि में जिस प्रकार मोहिनी शक्ति थी उसी प्रकार जान पड़ता है उस वाणी में भी थी! मेरी उस स्तब्धता पर वे सत्पुरुष हँसे और कहने लगे:—

"बच्चा! यदि कोई पुरुष एक सीढ़ी चढ़ कर ठहर जावे तो वह ऊपर तक किस प्रकार पहुँचेगा? क्या उसे क्रम क्रम से सब सीढ़ियाँ नहीं चढ़नी चाहिए? एक बारगी चुपचाप रह जाने से उसकी उन्नति किस प्रकार होगी? चल, आगे की सीढ़ी पर पैर रख"।

इस मृदु विनोदात्मक प्रश्न से मेरा मन और भी प्रसन्न हुआ। मुझे इस बात का आश्चर्य भी होने लगा कि उन्होंने मेरे विचार और कृति का ग ढ़ संबंध कैसे पहिचान लिया। उस आश्चर्य के साथ ही उनके विषय में मेरा पूज्य भाव बढ़ने लगा। मेरा विश्वास होगया कि ये अद्वितीय योग्यता के पुरुष हैं। क्योंकि यदि ऐसा न होता तो मेरी 'नमस्कार, प्रश्न और सेवा' की सोपान-कल्पना वे कैसे जान लेते? तब भी ऐसा न मालूम हुआ कि मैं उनसे दिल खोलकर बोल बता सकूँगा। मालूम होता है उन्हें मेरी दशा ज्ञात होगई। मधुर हास्यपूर्वक वे बोले, "अच्छा है। तू इतने में अपना दिल नहीं खोल सकता। पहले मेरे आश्रम में चल। वहाँ थोड़ी विश्रांति लेने पर तेरी बातें सुनूँगा।" इतना

कह वे तुरन्त चलने लगे और मैं भी लोहचुंबक के समान खींचा जाकर उनके पीछे हो लिया। इस समय मेरा मन अनेक आनंददायक विचारों में गोते लगा रहा था। मुझे योगमार्ग का ज्ञान प्राप्त होगा और फिर मेरी अनेक दिन की इच्छा पूर्ण होगी, ऐसा विचार आते ही मैं बहुत ही उत्साहित हुआ। योगमार्ग, योगी की स्थिति, और योगी होने के बाद का मेरा आयुष्य-क्रम के विषय में मैं अनेक विचार सपाटे से कर रहा था। ऐसे समय हवा में गूँज उठनेवाले पंचम स्वर मुझे सुनाई दिये। मेरे मार्गदर्शक गाने लगे! मैं उसमें तल्लीन होगया।

जीव गहन भव-वन में घूमता फिरे।
कंटकमय विषम विषय देख बहु डरे॥
महाव्याल कामादिक क्रूर पशु करें।
आक्रमण, देख भगे, धैर्य सब मरे॥
गीताश्रम शरण सत्य, भ्रांति यह हरे।
शीघ्र वहाँ, ले विवेक! चलो, कर धरे॥

इस गायन के समाप्त होते ही मैंने देखा कि हम एक मनोहर बाग़ में आगये हैं। मुझे मालूम होने लगा कि यह स्थान आगे कभी तो भी देखा है। मैं याद करने का प्रयत्न कर रहा था, तत्काल स्वामीजी महाराज ही बोल उठे "अभी ही थोड़ी देर पहले इस स्थान का परिचय तुझे मिल चुका है या नहीं ?"

अब तो मुझे ख़याल आगया कि स्वप्न में मैं इसी उपवन में आया था। स्वप्न में देखे हुए पुष्प-वृक्षों के तरह तरह के समूह, बीच बीच में स्वच्छ पानी की नहरें इत्यादि स्वप्न के समान ही यहाँ प्रत्यक्ष देखकर मैं आश्चर्य में डूब गया। अब मेरी कल्पना दृढ़ होगई कि स्वप्न की देखी बातें कभी-कभी बिलकुल सच निकलती हैं। स्वप्न में जैसा देखा था वैसा ही दाहिने हाथ की ओर घूमने पर एक भव्य दरवाज़ा दिखलाई पड़ा। पर इस समय वहाँ कई अनेक बातें दीख पड़ीं। उसके चारों ओर नक्क़ाशी का काम था और बीच में बड़े-बड़े अक्षरों से "गीताश्रम" लिखा था। उसके दोनों ओर दो स्त्रियों की मूर्तियाँ खुदी हुई थीं। वे मोहक तो अवश्य थीं पर उनमें छिछोरेपन की छाया न थी। उनके मस्तक के पत्थर पर उनके नाम भी लिखे थे। बायें हाथ पर "शांति" और दाहिनी ओर "विरति"।

मेरा चित्त उन मूर्तियों के देखने में भूला हुआ देख मेरी ओर निहार कर स्वामीजी बोले—

"इनके दर्शन के सिवा यदि कोई इस आश्रम में प्रवेश करे तो उसे इसकी सच्ची शोभा देखने को नहीं मिलती।"

मेरे ख़याल में तत्काल समा गया कि इस वाक्य में अत्यन्त गूढ़ अर्थ भरा हुआ है। मैं विचार करने लगा कि क्या शांति और विरति की सहायता के सिवा किसी भी गूढ़ तत्त्व का विचार नहीं हो सकता? इनके दर्शन के सिवा मैं अन्दर

घुस गया था इसी कारण क्या स्वप्न में मुझे स्वामीजी का दर्शन न हुआ ? कदाचित् ऐसा ही हो ! इस प्रकार मैं कितनी ही बातें सोचता रहा, पर स्वामी के मुख से "बच्चा ! चल भीतर चलेंगे" इतना सुनकर मैं उनके पीछे चलने लगा। हम दरवाज़े के भीतर गये। वहाँ पाँच छः हाथ तक दोनों ओर कमान के समान खोद कर बनाई हुई कोठरियाँ थीं जहाँ पर सिर्फ़ एक एक मनुष्य बैठ सकता था। उसके आगे हमें नीचे उतरना पड़ा। छः सीढ़ी उतर कर गये तो बहुत उज्ज्वल प्रकाश दिखलाई पड़ा। हम एक चौक में खड़े हो गये। मैं चारों ओर देखने लगा। सामने छः कमरे थे। उन पर "उपासना" लिखा था। दाहिने बायें भी ऐसे ही कमरे थे और उन पर "कर्म" और "ज्ञान" लिखे थे। प्रत्येक कमरे के दरवाज़े की चौखट पर छोटे छोटे चित्र थे। प्रत्येक कमरे के पास जाकर मैं उन्हें देखने लगा। गीता का एक एक अध्याय सुनने के बाद अर्जुन की जो जो दशा होती गई, उनका उन पर चित्र था। ग्यारहवें कमरे पर विराट् स्वरूप (विश्वरूप) का और भयभीत अर्जुन का चित्र था, और आख़िरी कमरे पर हाथ में बाण लिये रथ में बैठा हुआ अर्जुन और हाथ में लगाम लिये हुए उसके सारथी श्रीकृष्ण का चित्र था।

स्वप्न में देखी हुई गुफा में और इस आश्रम में कितना अन्तर ! मैंने अभी तक कोई कमरा खोला नहीं था, पर मेरे मन में इस बात का विचार चल रहा था कि यह प्रकाश कहाँ

से आता है। ऊपर की ओर सब अंधकार! छत का हिस्सा भी नहीं दीखता था। प्रकाश आने के लिए कुछ खिड़कियाँ वग़ैरः भी नहीं। और वह प्रकाश सूर्य-प्रकाश से भी उज्ज्वल, परन्तु धूप का कष्ट नहीं! क्या कहीं गैस अथवा बिजली की रोशनी है? बहुत सूक्ष्म निरीक्षण किया पर कुछ नहीं दिखाई पड़ा। मेरी दशा ऐसी हुई मानों मैं "आयने-महल" में घुस गया और दरवाज़ा बन्द कर लिया, फिर दरवाज़े का पता नहीं! मेरा मन अब संत्रस्त होगया। इतनी देर तक स्वामीजी का भी मुझे ख़याल नहीं था? हाँ, वे कहाँ गये? चारों ओर देखा तो जिस रास्ते से आये थे, उसके पास ही के एक ऊँचे सिंहासन पर स्वामीजी विराजमान थे और लगातार मुसकरा रहे थे। मुझे दीख पड़ा कि उनके मुख से अत्यन्त उज्ज्वल किरणें निकली थीं और उन्हीं का प्रकाश चारों ओर छा रहा था। मैं भक्ति-मूढ़ होगया। नमस्कार करने के लिए नीचे झुकते समय देखा कि सिंहासन पर "हृदयस्थो विवेकः" और नीचे "विवेक स्वामी" लिखा है। मैंने कल्पना की कि स्वामीजी का नाम 'विवेक स्वामी' है। नमस्कार करने के बाद स्वामीजी की आज्ञा से उठ बैठा।

स्वामीजी बोले, "अब सायं-सन्ध्या का समय होगया है। इसलिए नित्यकर्म से निपट कर फलाहार कर और रात भर आराम ले। सबेरे प्रातःकृत्य के बाद तेरा सब इतिहास सुनकर तुझे योग्य उपदेश दूँगा"।

इससे मुझे बहुत संतोष हुआ। उनकी आज्ञा के अनुसार मैं सन्ध्या-वंदन करने के लिए आश्रम के बाहरी उद्यान में आया। सर्व कर्म करने पर दरवाज़े के भीतर के दालान में जाकर सुख-पूर्वक लेट गया। नींद लगने तक अनेक विचार आ रहे थे। 'स्वामीजी मुझे क्या अनुमति देंगे? योग-मार्ग का क्या उपदेश देंगे? क्या मैं शिष्य होने के योग्य हूँ'? फिर खूब गाढ़ी निद्रा आगई और मैं बेसुध होगया?

चौथा परिच्छेद

योगी का महत्त्व

प्रात:काल को सौम्य रक्त-वर्ण सूर्य निकला और उसकी सुनहरी किरणें चारों ओर फैलीं। उस प्रकाश में खड़े रह मैंने सूर्य-नारायण को नमस्कार किया और प्रात:काल के नित्य-कर्म निपटाये। "आज मेरे आयुष्य का सुवर्ण दिन है—आज से मेरे चरित्र को एक नई दिशा प्राप्त होगी—योगी बन जाने पर मैं लोगों का सिरमौर बनूँगा अथवा उनमें ही रह के ईश्वर में लीन हो जाऊँगा"। इस प्रकार आनंददायक विचार करते हुए मैं विवेक स्वामी के प्रकाश से प्रकाशित गीताश्रम के चौक में जा खड़ा हुआ।

सिंहासन पर स्वामीजी समाधिसौख्य में मग्न थे। उनके नेत्र अधखुले थे। उनके मुख से सौम्य परन्तु तेज:पुंज किरणें निकल रही थीं और सब चौक पहले जैसा ही प्रकाशित था। इस समय स्वामीजी की मूर्ति बहुत ही मनोहारिणी दीख रही थी। इस कारण मैं उन्हें आपाद मस्तक देख रहा था। सूर्य के चारों ओर उसके आकर्षण से जिस प्रकार ग्रहमाला घूमती है, उसी प्रकार मेरी ज्ञानेंद्रिय की सब शक्ति उनके अतुल सौंदर्य से आकर्षित होकर उनके चारों ओर घूम रही थी। मैं उनके

आगे इकटक देखते हुए खड़े खड़े उनके स्वरूप का अमृत पी रहा था। ज्यों ज्यों उनका आनन्द बढ़ता त्यों त्यों वे अधिक सुंदर दीखते थे, और उसके साथ मेरा हृदय प्रफुल्लित होकर उठने लगता था।

जल्द ही स्वामीजी ने आँखें खोलीं, पर यह मुझे मालूम न पड़ा। वे जब गा रहे थे, तब मुझे मालूम हुआ कि उन्होंने आँखें खोली हैं। स्वामीजी गा रहे थे:—

योगी का आनंद। जान ले। योगी का आनंद ॥ ध्रु० ॥
विद्वान् नानाकलानिपुण को वह ही विद्यानंद ॥१॥
सगुणोपासक-कीर्तिगायकों को वह ब्रह्मानंद ॥२॥
लगे वही अत्यंतपारगों को सच्चा स्वानंद ॥३॥

मेघ के दर्शन से चातक अथवा मयूर को, अथवा चंद्रदर्शन से चकोर को जितना आनन्द न होता होगा, उतना आनंद स्वामीजी का गायन सुन कर मुझे हुआ। उनके स्वरमाधुर्य और अर्थसौष्ठव से मेरा हृदय लहरें खा रहा था। अचानक मेरे सिर में कुछ विचार आये और मैं स्वामीजी के चरणों पर गिर पड़ा। मनोभाव से मुझे शीघ्र ही योग-मार्ग दिखलाने के लिए उनसे विनती करने लगा, स्वामीजी ने मुझे समझाया-बुझाया और मैं अपने स्थान पर जा बैठा।

फिर उनकी आज्ञा पाकर मैंने घर से निकलने के समय से आज तक का पूरा हाल बतलाया। बीच बीच में जहाँ कहीं

मैं भूल जाता, वहाँ वहाँ वे ऐसी रीति से प्रश्न कर याद दिलाते कि मानों उन्होंने ही वे सब बातें भोगी हों। इससे उनका त्रिकाल-ज्ञान सिद्ध होगया। पूर्वेतिहास बतलाने पर मैंने फिर हाथ जोड़ कर विनती की "महाराज ! योगमार्ग जानने की मेरी उत्कट इच्छा आपको मालूम है ही। आपके प्रथम दर्शन से और इस पद्य से मेरा मन बहुत ही उत्तेजित हुआ है और योगमार्ग का ज्ञान पाने की उत्कण्ठा बड़ी भारी है। आपकी योगसिद्ध तेज:पुंज मूर्ति और योगविशिष्ट वाणी देखकर मेरा ऐसा विश्वास होगया है कि आपके सिवा इस बात का ज्ञान देनेवाला अन्य कोई गुरु मिलना दुर्लभ है, इसलिए मैं आपकी शरण में शिष्य-बुद्धि धरकर आया हूँ। अब मुझे कृपाकर मार्ग दिखलाइए।" यह आखिरी वाक्य बोलते समय "शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नं" के भावों से मेरा हृदय उत्तंभित होगया। हाथ जोड़ कर स्वामीजी के बोलने की ओर मेरे कान लगे थे। गाड़ी के टिकट मिलने के पहले लोगों की आँखें जिस प्रकार खिड़की की ओर लगी रहती हैं, उसी प्रकार मेरी इन्द्रिय-शक्तियाँ स्वामीजी के वचन की राह देख रही थीं।

"शाबास ! बच्चा, शाबास ! गीता का पठन हज़ारों करते हैं पर उससे सच्चा मार्ग प्राप्त करनेवाला केवल तूही दीखता है। योग ही गीता का सारसर्वस्व है ! यह केवल पूर्व-पुण्य की बात है कि योग की ओर मनोवृत्ति झुके, उसका ध्यान लगे, और

उसकी प्राप्ति के प्रयत्न में मन संलग्न हो। तेरा पूर्व-पुण्य बहुत भारी होना चाहिए, नहीं तो मेरी भेंट न होती। बच्चा! मनुष्य जिस बात के लिए काया, वाचा, मनसा प्रयत्न करता है, उसकी सिद्धि उसे कभी न कभी होती ही है। योग के विषय में तेरा श्रवण और मनन बहुत-कुछ हो चुका है, और अब तुझे उसका नित्य ध्यान लगा है। यानी तू उसके ज्ञान की सीढ़ी के पास पहुँच गया है। सद्विषयों के ध्यान से उनकी प्राप्ति होती है, परन्तु उससे काम उत्पन्न नहीं होता बल्कि निष्कामता बलवती होती जाती है। इसलिए असद्विषयों के कारण होनेवाला नाश सद्विषयों के ध्यान से होने नहीं पाता"। स्वामीजी अब किसी दूसरे विषय की ओर झुकेंगे ऐसा उनके थोड़ी देर चुपचाप रहने से जान पड़ा। इस शंका को दूर करने के विचार से मैंने उन्हें पूछा भी। उनका दयालुत्व, उपदेश करते समय उल्लसित वृत्ति और सौम्य मुद्रा देखकर उनसे बोलने के लिए मुझमें हिम्मत आगई थी। मैंने कहा, "महाराज! असद्विषयों से होनेवाले नाशों की परंपरा भी भगवान् ने—

ध्यायतो विषयान् पुंसः संगस्तेषूपजायते।

यहाँ से आगे के दो श्लोकों में जो दी है, वही है ना?

स्वामीजी ने उत्तर दिया "ठीक पहचाना। विषयों का ध्यान लगे तो उनकी प्राप्ति भी (संगति) होवेगी अवश्य, परन्तु उस प्राप्ति से यदि काम (वासना) बढ़ने लगे तो उस विषय

को असद्विषय कहना चाहिए। नाश का मूल वासना है। वह कभी भी तृप्त नहीं हो सकती। पापभीरु पुरुष को भी यह वासना पाप करने को ज़बरदस्ती प्रवृत्त करती है। "स्वधर्मे निधनं श्रेय:" (अपने धर्म का पालन करते समय मरण भी प्राप्त हो तो श्रेयस्कर ही है) का उपदेश करने पर अर्जुन ने स्वानुभव से यह प्रश्न किया:—

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः॥

हे कृष्ण! इच्छा न रहते भी किसी ने करने के लिए लाचार किया हो, इस प्रकार पुरुष पाप का आचरण करता है। ऐसा बलवान् यह कौन है?

बीज और भूसी पहिचान कर उन्हें अलग अलग करने की शक्ति जिन्हें है, वे चतुर पुरुष भी कभी कभी बीज को छोड़ भूसी ही छाँट कर रखने लग जाते हैं। किसके कारण उन्हें यह भ्रम होता है। कीचड़ में फँसे पैर निकालने के लिए हाथ का सहारा लेनेवाले भी वहाँ फँस जाते हैं। उसी प्रकार पाप से बचने के लिए प्रयत्न करनेवाले को फिर से पाप में डुबा देनेवाला यह बलवान् कौन है?

इस पर श्रीभगवान् ने "वासना" कहकर इस प्रश्न का उत्तर दिया है और आगे उसका वर्णन इस प्रकार है:—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥ ३,३६ ॥
धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च ।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥ ३,३७ ॥

रजोगुण से उत्पन्न होनेवाले ये अतृप्त और अत्युग्र काम और क्रोध इस लोक के वैरी हैं। जिस प्रकार अग्नि धुएं से, दर्पण मैल से अथवा गर्भ झिल्ली से वेष्टित रहता है, उसी प्रकार ज्ञान इनसे वेष्टित है। ये रजोगुणों से उत्पन्न हुए हैं, तथापि तमोगुण का परिणाम यानी मोह इनसे उत्पन्न होता है, उन्हें नीच शत्रु समझ कर यदि कोई "नीचमल्पप्रदानेन" के न्याय से वश करना चाहे, तो वे कभी भी वश में न आवेंगे। यही बतलाने के लिए उन्हें "महाशन" कहा है। कामरूपी शत्रु का महाशनत्व कई जगह पर वर्णित है।

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥५५, ४९॥

महाभारत, आदिपर्व ॥

प्रज्वलित अग्नि में स्निग्ध (घी तेल वग़ैरह) डाल कर उसे बुझाना जितना ठीक होगा उतना ही काम की (वासना की) उपभोग से तृप्ति करना ठीक होगा। ज्यों ज्यों इच्छित प्राप्ति होगी, त्यों त्यों काम बढ़ता ही जावेगा। किम्बहुना—

यत्पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः ।
नालमेकस्य तत्सर्वमिति मत्वा शमं व्रजेत् ॥

विष्णुपुराण ॥

सारी पृथ्वी का सब अनाज, सुवर्ण, पशु, स्त्रियाँ वगैरह पदार्थ यदि अर्पण किये जावें तो भी वे अकेले काम के लिए यथेष्ट न होंगे। उनसे उसका फलाहार भी पूर्ण न होगा। क्योंकि चौदह भुवन जिसके हाथ में हैं उसके एक ग्रास के तुल्य भी क्या यह एक भुवन हो सकता है ? इसलिए यह काम दाम से वश नहीं हो सकता। कपटी मनुष्य के समान अधिक बलवान् होने के कारण नाश की ओर ही वह खींच ले जाता है। इसलिए उसके विषय में असावधान रहना योग्य नहीं, बल्कि उसका समूल नाश करना ही ठीक है। "महा-पाप्मा" विशेषण से उसकी अत्युग्रता दर्शित की है। इस कारण साम और भेद से भी वह वशीभूत न होगा। इसलिए दंड से उसे अपने हाथ में लाना आवश्यक है।

"इन वृतान्तवत् दुष्ट काम और क्रोध का नाश हुए सिवाय ज्ञान की सौम्य और सुखकारक संगति का लाभ नहीं हो सकता। काम-क्रोध का परिकोट गिरा कर ही ज्ञान-राज की भेंट करनी चाहिए। ज्ञान की भूमिगत अपार सम्पत्ति हस्तगत करने के लिए उस पर बैठे हुए काम-क्रोध-रूपी भुजंग अथवा पिशाच पहले नष्ट करने चाहिए। भूसी दूर करने से ही चावल दीख पड़ते हैं।

"तृष्णा, मोह, दंभ और माया ये चार काम-क्रोध के भृत्य हैं। उनके द्वारा ये वैराग्य, उपशम, संतोष, और धैर्य का नाश करते हैं, और आनन्द और सुख को रसातल में पहुँचाते हैं। और तापत्रय की अग्नि लगा कर जीव को "त्राहि त्राहि" कहने को बाध्य करते हैं।

"दुर्ग के सिवा जिस प्रकार राजा बलहीन है, उसी प्रकार इंद्रियतट से युक्त मनोबुद्धि-रूपी दुर्ग में यदि इन्हें न रहने दिया जाय तो ये भी बलहीन हो जावेंगे। इस दुर्ग को ही प्रथम वश कर लेने से उन्हें कहीं आश्रय न मिलेगा। फिर वे कुछ न कर सकेंगे। सारांश, नाश-कारक काम-क्रोध की जोड़ी जिनसे बलवत्तर होगी ऐसे असद्विषयों का ध्यान तुझमें नहीं है, बल्कि योग के समान सद्विषय में तू लगा है। इससे तेरी आगे सुस्थिति ही रहेगी।

"योग का महत्त्व गीता में इस प्रकार वर्णित है:—

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ६,४६॥

हे अर्जुन! तू योगी ही हो क्योंकि उसकी योग्यता तपस्वी, ज्ञानी, अथवा कर्मी से भी अधिक है।

"जिसकी प्राप्ति के लिए तपस्वी यम-नियम और प्राणायामादि तप करते हैं, क्लेशकारक आसनादि हठयोग करते हैं, और

उलटा लटका लेना, पंचाग्नि साधन करना, अथवा एक ही पैर पर खड़े रहना इत्यादि बातों से शरीर सुखाते हैं; अथवा कर्मी व्रत, नियम, उपवासादि नित्य नैमित्तिक कर्म जिसको पाने के लिए करते हैं, उसकी समता योगी पा जाता है। इससे यह समझना चाहिए कि योग का महत्त्व बड़ा भारी है। योग ही गीता का उपदेश है। गीता ने पार्थ को योगी बनाया। अथवा यों कहो, प्रत्येक को योगी बनाने के लिए ही गीता का अवतार हुआ है।

"गीता ने क्या किया और योग किसे कहते हैं ये बातें तुझे अब सबेरे बताऊँगा। तब तक तू बतलाये हुए विषयों पर विचार कर"। इतना कह कर वे चुप हो रहे।

मेरा मन पीछे देखने लगा। योग का ध्यान मुझे लगने का कारण मैं ढूँढ़ने लगा। भागवत की कृष्णावतार-कथा की योग-माया और योग-शक्ति का ख़याल मुझे आया और उन्होंने ही मुझे योगी बनने के लिए कहा। योग-शक्ति से आकाश में उड़ सकते हैं, इच्छानुरूप प्रकट अथवा गुप्त होना, त्रैलोक्य को इधर के उधर कर देना, विश्वामित्र के समान नई सृष्टि-निर्माण करना, इत्यादि असामान्य कृत्य करने की शक्ति आती है। इस प्रकार अनेक जगह बतलाये हुए योग-शक्ति के प्रभाव मेरी देह में आगये तो मैं अग्रगण्य हो जाऊँगा इसी ख़याल से मुझे योग का ध्यान लगा। मैं अद्वितीय शक्तिमान् हुआ तो अनेक एम०

ए० बी० ए० मेरी सेवा में लगे रहेंगे, अनेक राजा-महाराजा मेरा सम्मान करेंगे, राजगुरु अथवा जगद्गुरु की पदवी भी प्राप्त कर लूँगा, इस आशा से मेरा मन योग-सिद्धि के प्रयत्न की ओर झुका। ऐसे विचार मेरे दिल में चल रहे थे, उसी समय विवेक-स्वामी के गायन का स्वर मेरे कानों में घुसा। वे गाते थे:—

पद्य

सावधान मन में ॥ बच्चा ॥ ध्रु० ॥
आशा डाकिन मार्ग खड़ी है,
निगल जाय क्षण में ॥ १ ॥
तद्दुर से तब मुक्ति मिलाने,
युक्ति न वास्तव में ॥ २ ॥
उछाल ले तू, उस पर पद धर,
सिद्धि मिले जिसमें ॥ ३ ॥

"सच है। योगी बनकर भी मैं वासना, तृष्णा इत्यादि ही की वृद्धि करूँगा? क्या ही आश्चर्य की बात! सद्विषय के लिए प्रयत्न करने पर भी उसे असद्विषय का स्वरूप देने की ओर मेरी प्रवृत्ति हो।" ऐसा विचार करते करते मैं माध्याह्न स्नान की तैयारी में लगा। मेरे मन में उत्कण्ठा लगी रही कि दूसरा दिन कब निकलेगा। क्योंकि मुझे स्वामीजी योग की परिभाषा दूसरे

दिन बतलानेवाले थे। दूसरे दिन के निकलने तक मेरे मन में कितने विचार आये गये होंगे, इसका बतलाना कठिन है। परन्तु पिछले चरित्र से और मेरे विचारों की दिशा से उनकी कल्पना पाठकों को हो सकती है। इसलिए यह परिच्छेद यहीं समाप्त करता हूँ।

पाँचवाँ परिच्छेद

सच्चा योग

स्नान-संध्यादि नित्य-कर्म से निपट कर मैं विवेक स्वामीजी के गीताश्रम में गया। आज मेरे आनन्द का पारावार न था। मेरा मनोरथ अत्यंत वेग से दौड़ने लगा। "योग की परिभाषा और उसका स्वरूप समझ जाने पर मुझे योगी होने को कुछ देर न लगेगी! चतुर्दल से लगा कर योग-मार्ग के सब चक्रों का, इड़ा, पिंगला, सुषुम्नादि नाड़ियों का और यम-नियमादि अष्टांगों का ज्ञान मिल जाने पर कितने कितने समय तक समाधि-सुख में मैं मग्न रहा करूँगा! काल की भी वक्र दृष्टि अपनी ओर न हो सकेगी! इत्यादि इत्यादि"।

ऐसे विचार मन में चल रहे थे, तब स्वामीजी को नमस्कार कर मैं अपने स्थान पर बैठ गया। आज उन्होंने समाधि नहीं लगाई थी। मुझे बैठे देख वे बड़े ज़ोर से हँसे और पूछा—"क्यों योगिराज! मन को स्वेच्छासंचार करने को स्वतंत्र छोड़ कर क्या आप योग-साधन का विचार कर रहे हैं?"

स्वामी के हँसते ही मेरे शिथिल विचार तत्काल रुक गये। मैंने गर्दन नीची कर ली। मैं अब लज्जित होगया, क्योंकि यह

मेरी स्थिति उस अतीन्द्रिय द्रष्टा को सरलतापूर्वक ज्ञात हो गई। तत्काल मेरी सांत्वना करने की इच्छा से वे कहने लगे—

"इन्द्रिय बलवान् हैं ही; वे योगी के भी मन को विषयों की ओर खींच ले जाते हैं। परन्तु मन ही इतना चंचल है कि इन्द्रियों को भी मालूम नहीं ऐसे भी विषयों की ओर वह मनुष्य को स्वेच्छया दौड़ाते रहता है।

इस चंचल और अस्थिर मन को अपने अधीन कर लेना चाहिए।

तबही समताभाव* की प्राप्ति हो सकती है। भगवान् का यह उपदेश सुनकर अर्जुन ने मन के संयमन की कठिनता दर्शाई। अर्जुन ने कहा, "हे भगवन्! आपने यह समताभाव का योग मुझे बतलाया, पर—

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥६। ३४॥

"वायु को पकड़ रखना जितना कठिन है, उतना ही इन्द्रिय को क्षुब्ध करनेवाले इस बलवान् और दृढ़ मन को स्वाधीन करना कठिन है।"

---

* सुख दुःख इत्यादि को सम यानी समान समझना ही समताभाव है, इसी को समत्व, या केवल समता या साम्य भी कह सकते हैं। इन शब्दों का इस पुस्तक में यही अर्थ होगा—

अनुवादक

और मन स्वाधीन नहीं तो यह योग सिद्ध नहीं हो सकता।

"श्रीकृष्ण ने अर्जुन का भाव समझ कर उसे यह बतलाया कि एवंगुणविशिष्ट (ऊपर बतलाये हुए गुणों से युक्त) मन को किस प्रकार अपने वश में लाना चाहिए। जिसका स्वरूप अथवा महत्त्व समझ में नहीं आता, पर हवा खाने के लिए त्रिलोक भी जिसे काफ़ी नहीं होता, जिसका नियमन करने का प्रयत्न किया तो कुछ वश में आया सा ज्ञात होकर फिर ऐसी उछाल मारता है कि पहुँच के बाहर कूद जाता है और फिर जिसे पकड़ना कठिन है; विवेक, निश्चय, धैर्य आदि को सहायता देने का बहाना कर उन सबको एकदम फँसाता है, ऐसा यह विश्वासघातकी मन श्रीकृष्ण बतलाते हैं:—

अभ्यासेन तु कौन्तय वैराग्येण च गृह्यते ॥३।३५ ॥

अभ्यास और वैराग्य से वश में आ सकता है।

"अर्जुन को भी जिसका निग्रह दुष्कर मालूम हुआ, वह तेरे वश में इतने शीघ्र किस प्रकार आ सकता है! इस कारण उसके बारे में अपने मन में बुरा मत मान, पर ख़्याल रख कि—

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः ॥९।३६ ॥

जिसने मन का संयम नहीं किया है उसे योग की प्राप्ति नहीं हो सकती।

इसलिए अभ्यास और वैराग्य की सहायता से उसे जीतने का प्रयत्न प्रथम तू कर। मन मर्कट के समान चंचल और उपद्रवकारी है। मर्कट कभी भी एक जगह पर स्थिर बैठता नहीं—कुढ़ाना, खुजलाना, उछलना, टेढ़े-मेढ़े मुँह करना इत्यादि अनेक उपद्रव सदा किया ही करता है। झूठ-मूठ समाधि भी उसे सिद्ध नहीं हो सकती! पर वही मर्कट अभ्यास के कारण सर्कस में कौन-सा काम नहीं कर सकता? परन्तु रोज़ अभ्यास के पहले एक चाबुक लगता है, उसी प्रकार मन को वैराग्य-रूपी चाबुक चाहिए। क्यों? ठीक है ना?" स्वामीजी ने इस प्रश्न के बाद मधुर हास्य किया और थोड़ी देर चुपचाप रहे।

यह अल्प समय मेरे मन में बहनेवाले विचारों की आँधी को दूर करने के लिए बिलकुल काफ़ी न था। मन को स्वामीजी ने मर्कट कहा यह मुझे भी भाया, बहुत ठीक जँचा। मेरे समान किसी भी व्यक्ति को प्रतीत होगा कि मन मर्कट के समान ही खाते समय, घूमते समय, अथवा और किसी भी दशा में चंचल ही रहता है, चारों ओर देखना, प्रत्येक काम में गड़बड़ करना, बीच में ही टेढ़े-मेढ़े मुँह करना, आधे काम करके उन्हें छोड़ देना, इत्यादि मर्कट की हलचलें अनेकों ने देखी होंगी। अब मन की हलचलों का विचार करें तो ज्ञात हो जावेगा कि वे भी इसी प्रकार की हैं। स्नान-संध्यादि कर्म इसलिए बतलाये हैं कि मन निरुपद्रवी विषय में कुछ काल एकाग्र हो, पर मन उस मंत्र में, मंत्र की उपास्य-देवता में अथवा उस प्रकार हम जो कसरत

करते हैं उसमें भी एकाग्र रहता है क्या ? क्या कोई ऐसी प्रतिज्ञा कर सकता है ? हाथ से शालिग्राम के पत्थर सिंहासन पर के पात्रों में रख रहे हैं, मुँह से मंत्रघोषणा चल रही है, और कल जो ख़राब तरकारी बनी थी उसके लिए अपनी सहिष्णु अर्धांगिनी को कठोर शब्द सुना रहे हैं ! क्या यही मन की एकाग्रता है !! ऐसे कितने भी उदाहरण मिलेंगे ! ऐसे अनुभव सबको मिलते हैं, इसलिए अधिक बतलाने की आवश्यकता नहीं। मैंने केवल अपने विचारों के कुछ नमूने दिये हैं। इस प्रकार मैं मन की मर्कटवृत्तियों का चित्र बना रहा था। मन की ऐसी दशा बनी रहे तो कौन-सा कार्य सिद्ध हो सकता है ? यह विचार ज्यों ही मन में आया त्यों ही स्वामी फ़िर बोले:—

चित्त के निश्चल हुए सिवा योग-सिद्धि नहीं हो सकती। इसी लिए महर्षि पतंजलि ने योग को "योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः" चित्तवृत्ति का निरोध कहा है। यानी उन्होंने चित्त की निश्चलता को प्रधानता दी है। और चित्त-वृत्ति का निरोध करने के लिए अभ्यास और वैराग्य ही दो साधन बतलाये हैं। अभ्यास का अर्थ बतलाया है "एक ही अनुभव की बारबार आवृत्ति" (चित्तभूमौ समानप्रत्ययावृत्तिः); और वैराग्य का अर्थ है—'दृष्ट, श्रुत, अथवा कल्पित भोग सदोष हैं इस भावना से उनके विषय में उदासीन रहना' (दृष्टादृष्टेष्ट-भोगेषु दोषदर्शनाभ्यासाद्वैतृष्ण्यम्)। भोग अनित्य हैं और वासना की वृद्धि करते हैं। इन दोषों का हमेशा मन में ख़्याल

रखना चाहिए। तब वैराग्य उत्पन्न होगा। इस कल्पना के अनुभवार्थ आवृत्ति करने से अभ्यास होगा। अभ्यास से वैराग्य उत्पन्न करके, वैराग्य का अभ्यास चलाने से चित्तवृत्ति का निरोध होगा।"

ऊपर की बातों से मेरा ख़्याल हुआ कि स्वामीजी चित्त की निश्चलता को योग नहीं समझते बल्कि उसे योगसिद्धि के साधनों में से एक साधन समझते हैं। फिर गीता में बतलाया हुआ योग कौन-सा है? मेरा मन विचार-चक्र पर चक्कर खाने लगा। यह भी स्वामीजी की अंतर्दृष्टि से छिपा नहीं था। तत्काल हँस कर वे कहने लगे:—

"मनोविजय योग का साधन तो है ही, पर बहुत ही प्रमुख साधन है। जब तुझे भगवद्गीता की योग की परिभाषा ज्ञात हो जावेगी तो तू मेरा कहना समझ जावेगा। प्रथम इस बात का विचार करना चाहिए कि गीता ने कौन-सा कार्य संपादित किया। क्योंकि "गीता योगप्रचार के लिए ही उत्पन्न हुई", इस वाक्य से जान पड़ता है कि योग ही उसका मुख्य कार्य है। श्रीगोपाल ने सब उपनिषद् स्वरूप गायों को दुहकर चतुर अर्जुन-वत्स को गीतामृत पिलाया।

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनंदनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्॥

"श्रीभगवान् गोपाल ने अर्जुन को गीतामृत पिलाया तो किस कारण? उसे कौन-सा रोग हुआ था जो ऐसा करना पड़ा?"

ऐसा मुझे पूछ कर स्वामीजी मेरी ओर देखने लगे। उनके चेहरे से ऐसा ज्ञात होता था कि मुझसे वे उत्तर की आशा कर रहे हैं। मुझे मालूम हुआ कि यह गीतापाठ की मेरी परीक्षा ही है। इस कारण मुझे भी जोश आया और बोला, "भगवन्! योग्य न्याय के अनुसार जो राज्य पांडवों का था उसे कपटद्यूत से हरण कर, निश्चित अवसर बीतने पर भी, कई महापुरुषों के कहने कहाने पर भी, कौरव राजा दुर्योधन सूई के अग्र के बराबर भी भूमि पांडवों को देने को तैयार न था। पांडव अपना न्याय्य हिस्सा लेना चाहते थे, और कौरव अन्यायपूर्वक प्राप्त किया हुआ राज्य पचाना चाहते थे। इस कारण लड़ाई छिड़ गई। ऐसे समय जिस अप्रतिम पांडव योद्धा पर सब दारमदार थी वह पार्थ ही आप्त स्वकीयों से लड़कर उनके रक्तपात से प्राप्त किये राज्य का कैसे उपभोग करें इस विचार में पड़ा और वह शस्त्र त्याग कर चुपचाप बैठ गया। उस समय उसका यह विषाद दूर करने के लिए ही श्रीभगवान् ने गीताशास्त्र उसे समझाया था।"

इस पर स्वामीजी का चेहरा गंभीर दीखने लगा। मालूम हुआ कि इससे वे संतुष्ट हुए। वे कहने लगे:—

यदि विचार करें कि "वह विषाद कौन-सा है तो देख पड़ेगा कि अर्जुन को ऐसी दशा में चुपचाप बैठा देख श्रीभगवान् ने उससे जो पहला प्रश्न पूछा उसी में उसका स्वरूप वर्णित है।

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ! ॥२॥

हे पार्थ ! भीरु पुरुष ही के योग्य, अधोगति को ले जानेवाला और अपकीर्तिकारक यह निरुत्साह युद्ध जैसे विकट अवसर पर तुझमें कहाँ से आया ? यही श्रीकृष्ण का प्रश्न है। इस प्रश्न में जो हीनतादर्शक विशेषण आये हैं, उनमें बड़ा व्यापक अर्थ भरा पड़ा है। "भीरु पुरुष को ही योग्य" इन शब्दों से यह भाव बतलाया है कि तुझ जैसे शूर को यह कार्य अयोग्य है। अधोगति को ले जानेवाला" कह कर यह सूचित किया है कि यह धर्म के विरुद्ध है। "अपकीर्तिकारक" यानी अन्याय्य भी है। इस प्रश्न का उद्देश के अनुसार भावार्थ करना हो तो ऐसा होगा :—

"हे अर्जुन ! पहले इस बात का तूने विचार किया है कि तू कौन है, क्या करता है, ऐसा करना क्या तुझे योग्य है ? तू अनुचित बातों को कभी ध्यान में भी नहीं लाता और तेरी हिम्मत कभी नहीं हारती। हे विजय ! तेरे नाम को "अपकीर्ति" का कलंक कभी नहीं लगा। फिर तुझे आज क्या होगया है ? तू क्षत्रियों का राजा है, शूरत्व का आकर है, तूने युद्ध में शङ्कर को भी जीता, गंधर्वों को हराया, निवातकवच प्राप्त किया। तेरी कीर्ति का त्रैलोक्य में ऐसा घोष हो रहा है और आज तूने यह करुण दशा कैसे ग्रहण की ? क्षत्रियों को युद्ध के समय सदय होना ठीक नहीं। जिस प्रकार अंधकार

सूर्य को, मेंढक सर्प को, अथवा सियार सिंह को निगल डाले, उसी प्रकार इस करुणता ने तेरा क्षात्रतेज निगल लिया है। पर इससे तेरी सुकीर्ति नष्ट हो जावेगी, और युद्ध में मृत्यु पाये हुए क्षत्रियों को मिलनेवाला स्वर्ग भी तुझे न प्राप्त होगा। कुछ तो भी इस बात का सोच कर।"

"फिर आगे श्रीकृष्ण ने बतलाया, 'क्षत्रिय के लिए सबसे उत्तम बात धर्म-युद्ध है। इस प्रकार का स्वर्ग के कपाट खोल देनेवाला युद्ध केवल क्षत्रियों को ही प्राप्त होता है, यानी तेरा धर्म युद्ध करना है और वह तू नहीं करेगा तो तेरे धर्म और कीर्ति दोनों नष्ट हो जावेंगे,' और अपकीर्ति सब जगह फैल जावेगी" और:—

संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥२।३४॥

सन्मान्य पुरुष की अपकीर्ति मृत्यु से भी बढ़कर असह्य होती है। इस सब उपदेश का सारांश यह है कि 'हे अर्जुन! युद्ध तेरा स्वभावसिद्ध धर्म है। उसे त्याग देने से तेरा स्वभाव-सिद्ध धर्म नष्ट हो जावेगा और तू पाप का भागी होगा। जिस प्रकार दूध अमृत होकर भी नवज्वरपीड़ित को विष के समान होता है, उसी प्रकार सदयता उत्तम गुण तो है पर वह यदि युद्ध के समय किसी क्षत्रिय में उत्पन्न हो तो विष के समान नुक़सान पहुँचाती है।

इससे स्पष्ट है कि अर्जुन स्वधर्म से च्युत होगया था और कर्मत्याग करने को तैयार था। और गीता सुनने पर फिर

से वह धनुष लेकर युद्ध के लिए तैयार हो गया यानी गीता ने उसे स्वधर्म में प्रवृत्त किया।

'अर्जुनं प्रति कर्मण्येव प्रवर्तितवान् भगवाञ्छ्रीकृष्णः'।

'अर्जुन को भगवान् श्रीकृष्ण ने कर्म करने को ही प्रवृत्त किया'। गीता का किया हुआ यह कार्य इस तरह 'ढुंढिराजात्मज विट्ठलशर्मा' ने शांकरभाष्यादि सप्तटीकोपेता श्रीमद्भगवद्गीता नाम की अपनी पुस्तक की भूमिका में व्यक्त किया है।'

"इससे सिद्ध होता है कि 'स्वधर्म' यानी 'स्वभावनियत कर्म' ही गीता का प्रतिपाद्य विषय है।

"अब विचार करना चाहिए कि गीता में योग की क्या परिभाषा की है।

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥२॥४७॥

हे धनंजय ! तू योग में रहते हुए (यानी बुद्धि को योगयुक्त बनाकर) कर्म कर, उस कर्म में सफलता मिले तो हर्ष मत मान या विफलता मिले तो विषाद मत कर ! इस प्रकार के बुद्धि के समत्व को योग कहते हैं।

"श्रीभगवान ने इस श्लोक के आखिरी दो चरणों में योग की परिभाषा दी है। हर्ष और विषाद दोनों मनोवृत्तियाँ हैं, उनके अधीन नहीं होना चाहिए यानी उनको अपने वश में रखना चाहिए। यानी चित्तवृत्ति का निरोध करना चाहिए। सारांश,

"योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः" पातंजल योगसूत्र की इस परिभाषा का अनुवाद ही इस श्लोक में दिया है। श्लोक के पूर्वार्ध में जो बतलाया है कि कर्म करने के लिए 'योगस्थः' (योगयुक्त) होना चाहिए उसकी परिभाषा उत्तरार्द्ध में दी है, यानी यहाँ वर्णन किया हुआ योग साधन है और कर्म (विहित कर्म) साध्य है"।

उपरिनिर्दिष्ट विवाद में स्वामीजी ने कर्म को जो प्रधानता दी है, उसका कारण मैं बिलकुल नहीं समझ सका। मुझे मालूम होने लगा कि योग की परिभाषा बताते समय स्वयं योग को स्वामीजी ने गौण कर दिया, तो इसमें उनका कुछ गूढ़ हेतु होना चाहिए। मैं इस बात को सोचने लगा। अब तक स्वामीजी की रीति यह थी कि महत्त्व के किसी विषय पर बात-चीत होने के बाद वे मुझे विचार का अवसर देने की इच्छा से कुछ देर तक चुपचाप रह जाते थे। पर इस समय मेरे मन में इस बात का झगड़ा चला था कि योग से कर्म क्यों प्रधान है? मेरा चित्त इसी बात में व्यग्र हो गया। आसनादि से कर्मेंद्रिय, प्राणायाम से प्राणवायु, और अभ्यास-वैराग्य से मन नियंत्रित करना ही योग है और यही सबसे श्रेष्ठ है ऐसा मैं अब तक समझता था, और सब इन्द्रियों के कार्य बंद करने में ही सब सफलता मिलने की आशा करता था। परन्तु यहाँ तो स्वामीजी प्रतिपादन करते हैं कि कर्म करना आवश्यक धर्म है। इस कारण मेरी चित्तवृत्ति व्यग्र होगई। मुझे कुछ भी सूझ नहीं

पड़ता था। आख़िर जब प्रश्न पूछने की इच्छा से मुँह खोलनेवाला ही था तब स्वामीजी बोले, "बच्चा! ठहर। जल्दी न कर। मन को इस प्रकार आन्दोलित न होने दे। श्रीभगवान् ने कुछ महत्त्वपूर्ण हेतु के कारण योग की परिभाषा इस प्रकार बतलाई है। श्रीभगवान् ने केवल एक बार और योग की परिभाषा की है:—

तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ।२।५० ॥

इसलिए तू अपनी बुद्धि योग में युक्त कर। कर्म करने की निपुणता ही योग है।

"चित्त की समता ही योग का सार है। मन और बुद्धि की एकता हुई तो समता सिद्ध होगई। यह एकता ही बुद्धियोग है। इसके महत्त्व के सामने कर्मयोग कम महत्त्व का जँचेगा, पर कर्माचरण के सिवा बुद्धियोग सिद्ध नहीं होता। कर्मफल के हेतु का त्याग करने के सिवा कर्मयोग नहीं होता, इसलिए पहले निष्काम कर्मयोग सिद्ध करना चाहिए, और पीछे समता साध कर बुद्धियोग सिद्ध करना चाहिए। तब पापपुण्य का बंधन हमें न लगेगा। बुद्धियोगी पुण्य करके पाप का त्याग करता है और फलहेतु का त्याग कर पुण्य कर्म में भी लिप्त नहीं होता।

"इसमें के 'कर्मसु' शब्द का स्पष्टीकरण करते समय "स्वधर्माख्येषु कर्मसु" कहा है। सारांश सामान्यतः फल की

इच्छा न रखते हुए स्वधर्मोचित कर्म करने के निपुण आचरण को योग कह सकते हैं।

"गीता ने अर्जुन को स्वधर्म में प्रवृत्त किया यानी ऊपर की परिभाषा के अनुसार ऐसा भी कह सकते हैं कि उसे योगी बनाया। अर्जुन को योगी बनाने के लिए—यानी स्वधर्माचरण की ओर झुकाने के लिए—गीता का इस मृत्युलोक में अवतार हुआ। गीता में महत्त्व का विषय योग ही है और उसकी परिभाषा ऊपर दे चुके हैं। अब इस विषय पर तू पूर्ण विचार कर। फिर सबेरे तुझे कर्म-योग की आवश्यकता दिखलाऊँगा और उसे अधिक स्पष्ट कर बतलाऊँगा"।

इतना कह कर स्वामीजी का कथन समाप्त हुआ और वे गाने लगे। सोचने के लिए मुझे एक अतिगहन विषय मिला था और इस कारण किसी बात में मेरा मन लग नहीं सकता था। पर स्वामीजी के भाषण का और उसी प्रकार गाने का भी आकर्षण इतना प्रबल था कि मेरे अत्यन्त चंचल मन को वे पारी पारी से खींच ले जाने लगे।

पद्य

कर्म करो निष्काम ।। सखा रे ।।
यही योग सुखधाम ।। ध्रु०
जीव रहे तक देख सोच ले,
'कर्महीनता कैसे पावे' ।।१।।

कर्म ही साधन चित्त-शुद्धि का,
चित्त ज्ञान से मलिन न होवे ॥
'ज्ञानान्मोक्षस्तस्मात् सहजं,
कर्त्तव्यं निजकर्म' सखा रे ॥

छठा परिच्छेद

वह रात !

निशाकर के उज्ज्वल धवल तेज से वसुंधरा के संपूर्ण भाग प्रकाशित हो रहे थे। दिन की तेज़ धूप से कुम्हलाई हुई बेलें और पत्ते इस अमृतसिंचन से फिर भी सरस और हरे भरे दीख रहे थे। निशिगंध के प्रफुल्ल फूलों से वह वन-प्रदेश सुगन्धित होगया था, और उस गिरिराज पर चारों ओर शांति का साम्राज्य फैला था। ऐसे समय में मैं एक विस्तृत शिला पर बैठा हुआ सृष्टि-शोभा का अवलोकन कर रहा था।

जग में बारम्बार प्रसिद्ध होनेवाले ढोंगी योगियों के वृत्तांत से मेरे अज्ञान मन ने (यह मुझे बहुत देर के बाद मालूम हुआ) योग की कल्पना कुछ और ही कर ली थी। 'कितने ही वर्षों तक योगी बिना खाये पीये रह सकता है, वह दूसरे के मन की बात जान सकता है; पानी का घी बनाना, रेलगाड़ी खड़ी करना, दूसरे के स्वप्न में प्रवेश करना, अनेक मूर्ति धारण करना, ऐसे ऐसे अलौकिक काम करने की शक्ति उसे रहती है' ऐसी मेरी सुनी बातें थीं ! पर स्वामीजी कहते हैं कि योग यानो कर्म !! फिर ये बातें क्या कर्म से सिद्ध होती हैं ? कर्म से ही क्या वाक्सिद्धि प्राप्त होती है ? ऐसे अनेक प्रश्न मेरे मन में आते थे और उनका उत्तर मेरा मन 'नहीं' देता जाता

था। स्वामीजी के पास से उठने के बाद सायंसन्ध्या, फलाहार, स्तोत्रपाठ वग़ैर: काम करते समय ये विचार मेरे मन में चले थे, और इस विचार-सागर के पार जाने के लिए प्रयत्न करनेवाला मेरा मन शान्त होगया था। शिलातल पर बैठने को आने के पहले विगलित मन ने अपनी देह हवा और तरङ्ग को अर्पण कर दी थी, और वह बिलकुल स्वस्थ था। पर जब कभी बड़ी लहरें आतीं तो वह कभी स्वर्ग में तो कभी पाताल में पहुँच जाता और उसकी उन्नति-अवनति होती रहती। मन की ऐसी स्थिति में ही मैं शिलातल पर आरूढ़ हुआ।

धीरे धीरे उस शोभा ने मेरे चर्मचक्षु के समान अन्तश्चक्षु को भी आकर्षित कर लिया। सर्वशक्तिमान् परमेश्वर ने सृष्टि-सुन्दरी के शरीर में कितनी बलवती मोहिनी रख दी है! किसी दूसरी वस्तु में इतनी शक्ति नहीं कि श्रमविगलित गात्र उससे विश्रान्ति-सुख पाकर अपने श्रम भूल जावे और उसमें नया दम आ जावे। बहुत देर तक विचार-मन्थन करने से श्रान्त मन को स्थिर करने के लिए यह अजीब रसायन है! ज्यों ज्यों मैं सृष्टि-शोभा का अधिकाधिक अवलोकन करने लगा त्यों त्यों मेरे मन को शांति प्राप्त होने लगी। उस गहन विषय के बारे में मेरे विचार दूर हुए और उस सहजमधुर सृष्टि-सौंदर्यामृत का नेत्र और मन दोनों आकंठ पान करने लगे।

सुधासिंचन से वनस्पतियों के रसपरिपोष करने का अपना पवित्र कार्य ओषधिनाथ सुधाकर चन्द्रमा अविरत कर ही रहा

था। कुछ दूर दिखनेवाली पुष्करिणी के कुमुदों के गले में अपने कोमल करों को डाल उन्हें प्रफुल्लित करने का उसका शृङ्गारकार्य चला ही था। सर्वव्यापी किरणों ने निशिगंध के शुभ्र फूलों में से धवलिमा और सुगंध हरण कर चारों ओर फैला दी अथवा कोमल कुसुमों ने ही किरणों के पास से चोरी कर ली, इस मनोरंजक विषय में मेरा मन लगा था। विचार करते करते इस सृष्टि-क्रम के मूल तक जाने के लिए मेरा मन अंदर ही अंदर प्रयत्न कर रहा था। चंद्र, सूर्य, तारे सब ही अपना अपना कार्य बिना गड़गड़ के सदा नियमित रीति से करते रहते हैं। इन्हें अपने वश में रखनेवाला सर्वशक्तिमान् परमेश्वर कैसा होगा ? चार वेद, छः शास्त्र, और अठारह पुराण भी जिस प्रश्न का उत्तर नहीं दे सके, उसका उत्तर मेरा मूढ़ मन कैसे देगा ? कुछ देर तक विचार कर वह आगे कुछ न सोच सका, परन्तु फिर वह इस सृष्टि-क्रम की नियमितता की ओर झुका। सूर्य यदि नियमित रीति से उदय और अस्त हुआ नहीं, और काल के दिन और रात के स्पष्ट भेद किये नहीं तो श्रम और विश्रांति का नियमित क्रम बदल जावेगा, और श्रम की अथवा विश्रान्ति की परमावधि हो जाने से जग में केवल दु:ख अथवा सौख्यहानि ही का राज्य हो जावेगा। इसके सिवा, आरोग्यता की दृष्टि से भी नुकसान होगा। यही नियम दूसरे सृष्टि-क्रमों को लागू करता, और उनकी नियमितता के महत्त्व के बारे में इसी प्रकार विचार करता था।

इस प्रकार कुछ काल के बाद मैं बिलकुल चुपचाप हो रहा।

इस स्वप्नमय विश्रान्ति के समय मेरे मन में कुछ दूसरे ही विचार की स्फूर्ति उत्पन्न हुई। इस सृष्टि-क्रम का अर्थ है अनेक तेजोगोलों का और पंचमहाभूतों का स्वभाव-नियत (निसर्ग के या परमेश्वर के निश्चित किये हुए) 'कर्म'। यानी यह उनका धर्म ही है। उन्होंने अपना धर्म त्याग दिया तो त्रिभुवन का नाश हो जायगा! यही नियम हम मनुष्य-प्राणियों को भी लागू हो सकता है। हमने अपना धर्म—हमारा स्वभाव-नियत कर्म—त्याग दिया तो इसी प्रकार गड़बड़ मच जाने का डर है? मन में हलचल होने लगी। विचारों के बाद विचार उत्पन्न होने लगे। बहुत देर के बाद मन कहने लगा, "हाँ! ऐसा ही होगा। इसी कारण स्वामीजी ने कर्म को इतना महत्त्व दे रखा है।" इस प्रकार विचार करते करते वहाँ बहुत देर तक मैं बैठा रहा। इतने में मेरी आँखें खुली रहते भी चारों ओर की चीज़ों का दिखना बंद होगया। द्रष्टा के दूसरे ही विचारों में मग्न रहने के कारण दृष्टि के साथी (नेत्रद्वय) अपना काम न कर सके। यही स्थिति और भी इंद्रियों की हुई। इस एकाग्रता के समय मुझे एक विचित्र आभास हुआ।

चिंतनसमय में जब जब मुझे स्वामीजी का स्मरण होता तो ऐसा मालूम होता कि उनकी मूर्ति मेरी दृष्टि के सामने ही खड़ी है। इस आभास के होते ही ख़याल आता कि उनके सामने मैं

आसन पर विराजमान हूँ और इससे मन खड़बड़ा कर जग जाता! परन्तु फिर वहाँ मूर्ति न रहती। ऐसा बारंबार होता था। एक बार तो मुझे स्पष्ट जान पड़ा कि वह मूर्ति मेरी देह में से ही निकली। परन्तु इससे भी विचित्र बात यह कि वह मूर्ति गुप्त होने के लिए ज्यों ज्यों मेरे समीप आती त्यों त्यों मैं उठने का अधिकाधिक प्रयत्न करने लगता। परन्तु सब व्यर्थ! मेरे शरीर की शक्ति ही न रह जाती! मुझे मालूम होता कि मेरा बर्ताव विनय के विपरीत है और इस कारण मुझसे स्वामीजी अवश्य अप्रसन्न होंगे। परन्तु उठते ही नहीं बनता तो मैं क्या करूँ? मेरे शरीर से ख़ूब सपाटे से पसीना निकला। इधर वह मूर्ति बिलकुल मेरे पास आगई। केवल देखने के सिवा मेरे सब व्यापार बंद होगये थे। वह मूर्ति हिलने लगी, और ऐसा जान पड़ा कि मेरे शरीर में प्रवेश कर रही है। फिर ऐसा भी देख पड़ा कि वह मेरे हृदय में—बिलकुल भीतर—जाकर स्थिर होगई। उस समय मुझे इस बात का आश्चर्य लगा कि मुझे अंतःकरण देखने की शक्ति कैसे प्राप्त हुई! कार्य का बीज मुझे मिला नहीं तो भी इतना सच है कि मुझे वह दिखाई दे रही थी। उसके चारों ओर एक प्रभामंडल था। उस मंडल से दूर तक अँधियारे में देह छिपा कर काले लोग बैठे हुए कज्जल जैसे दीखते थे। प्रभा-मंडल के पास कई कोमल, सुंदर, हास्य-मुख नर और नारी थे। उन्होंने हाथ जोड़ कर कुछ प्रार्थना की। उन सबकी दृष्टि स्वामीजी की ओर ही लगी थी। इस सब दृश्य का कुछ रहस्य न

समझने के कारण मैं आश्चर्यविमूढ़ होगया। कुछ देर के बाद स्वामी की मूर्ति की आँखें मेरी आँखों से आ भिड़ीं। उनके मुख पर हास्य दीखने लगा। मेरी इच्छा थी कि वह दृश्य और वह मूर्ति ऐसी ही बनी रहे, परन्तु इस स्थिति में थोड़ा ही काल बीतने पाया था कि स्वामीजी के गायन का स्वर सुनाई पड़ा:—

जीव रहे तक देख सोच ले,
कर्म-हीनता कैसे पावे।

दो तीन बार यही चरण सुनाई पड़ा। स्वामी के मुख के हल-चल से और आवाज़ से मेरी ख़ातिरी होगई कि मेरे हृदय के स्वामी ही गा रहे हैं। परन्तु वह चरण मेरे कानों में बार बार आया और मेरा मन 'कर्म' वाले विषय की ओर झुकने लगा। होगया! मेरा कर्म ही इस विषय के रूप से मेरे सामने खड़ा हुआ था। क्योंकि वह दृश्य धीरे धीरे अस्पष्ट हुआ और कुछ देर के बाद साफ़ दूर होगया। मुझे फिर से वह चन्द्र प्रकाश, वह उपवन, चारों ओर की झाड़ी वग़ैरः चीज़ें दीखने लगीं।

इसके बाद मैंने कई उजली रातें वहाँ बिताईं, परन्तु उस सुख का स्वाद फिर से मुझे न मिला। अहाहा! वह मूर्ति मेरी आँखों के सामने अभी तक मुझे स्पष्ट दिखाई दे रही है! परन्तु उस समय का स्वरूप कुछ निराला ही था। वह रात अपने हृदय-पट पर अक्षय खोद रखने लायक़ है। क्या मुझे वह रात फिर से प्राप्त होगी? ऐसा कहाँ है मेरा भाग्य?—परन्तु मैं

कितना मूर्ख हूँ ! स्वामीजी ने इसका सार मुझे बतलाया, तो भी मैं पागल के समान उन्हीं बातों के ध्यान में लगकर दुःख उत्पन्न कर लेता हूँ। वह रात अब—दिन को भी—सुलभ है। यह किस प्रकार हो सकता है, इस बात का खुलासा आगे हो जावेगा। यहाँ इतना बतला देता हूँ कि इस रात के प्रसंग से मेरी मनोवृत्ति बीजारोपण करने के लायक़ होगई। यह भी मुझे स्वामीजी के ही बतलाने से मालूम हुआ। मेरे पाठक अब स्वामीजी का भाषण सुनने को उत्कण्ठित हुए होंगे। इसलिए अपने मन की स्थिति की नीरस कहानी यहीं समाप्त करता हूँ।

सातवाँ परिच्छेद

पुनः महत्त्व

स्नान के बाद अरुणदेव के साथ ही मैंने नित्य कर्म प्रारम्भ किये ! मेरे अर्घ्य-ग्रहण करने को विश्वात्मा सूर्य भी अपने सुवर्ण कर फैलाये क्षितिज पर आ बैठे । अनन्त पक्षिगण प्रात:काल की सन्ध्यादेवी के स्तोत्रपाठ मेरे साथ करने लगे। अनन्त की लीला का घोष कर, उसकी शक्ति का थोड़ा भी परिचय कर देने का अविरत उद्योग करनेवाली इस सन्ध्यादेवी-युगल को धन्य है ! पूर्व-पश्चिम दिशाओं के बीच का सब देश, और उदय और अस्त के बीच का सब काल उनसे व्याप्त है । परन्तु उनकी ओर ध्यान देकर देखनेवाला कौन है ? ऐसे ही लोग अधिक हैं जो नित्य परिचय के कारण उन्हें भूल गये हैं ! अनेकों को उनसे घृणा भी मालूम होती है ! सर्व वस्तुवर्ग बतलाने लगे कि प्रात:सन्ध्या ने अपना मुख ऊपर निकाला है और अपने नेत्र-कटाक्षों से उसने सब विश्व सचेतन किया है, तो भी उस समय ब्लैंकेट की गर्मी में पड़े रहनेवाले हरी के लाल इस सभ्य समाज में कम नहीं हैं। सायं-सन्ध्या देवी का हाथ घुस जावेगा इस डर से कमरे का कपाट बन्द कर सङ्गीत का घोष करनेवाले भी कम नहीं हैं !

ऐसे समय में कुछ लोग बाहर घूमने जाते हैं, परन्तु उनके नीरस वाद इतने तीव्र होते हैं कि सन्ध्यादेवी के काले होते तक उन्हें अपना और अपने घर का ख़याल भी नहीं रहता! निज को कवि कहला लेनेवाले कुछ लोग अथवा ऐसी इच्छा रखनेवाले उसकी ओर देखते हैं पर उनकी दृष्टि शृङ्गारमय रहती है! वे अपना "रोमैन्स" उसमें भर देते हैं। परन्तु सच्ची बात की ओर ख़याल नहीं।

अपने नित्य कर्म निपटा कर मैं गीताश्रम में गया। उद्योग, विश्रांति, मनोरञ्जन, इत्यादि सब बातों के लिए मुझे गीताश्रम उत्तम साधन मिल गया था। आश्रम की सीढ़ियों से उतरते समय मुझे जो सन्तोष हुआ उसका वर्णन करना मेरी शक्ति के बाहर है। वही पहला दिन था कि मुझे वहाँ स्वामीजी दिखलाई न पड़े। तब मैं तर्क करने लगा कि कभी भी कहीं भी बाहर न जानेवाले स्वामीजी आज कहाँ गये? मुझे स्मरण था कि उनका प्रथम दर्शन जिस दिन हुआ, उसी दिन केवल वे बाहर निकले थे। इस कारण मेरा कुछ भी तर्क नहीं चलता था। अतः मैंने मन को दूसरे ही विषय की ओर झुकाने का प्रयत्न किया। बायें हाथ के 'कर्मयोग' नाम के कमरों की ओर देखने लगा। ऐसा जान पड़ा कि उनमें से कई कमरों के दरवाज़े कुछ कुछ खुले हैं और तीसरे कमरे का दरवाज़ा कुछ अधिक खुला है। सामने के कमरों में से सिर्फ़ छठा खुला था और दाहिने हाथ को आख़िर का कमरा

आधा खुला था। यह अनपेक्षित अपूर्व बात देख कर मुझे आश्चर्य हुआ। इसलिए उसका कारण ढूँढ़ने के हेतु से प्रत्येक में सिर झुका कर मैं देखने लगा। तब प्रत्येक कमरे की दीवारों पर बड़े बड़े अक्षरों में कुछ श्लोक लिखे दिखलाई पड़े। तीसरे कमरे में देखा कि उसकी सब दीवारें श्लोकों से भरी हैं और उनमें से कुछ लाल रङ्ग से तो कुछ सुनहरे रङ्ग से लिखे हैं। मैंने उस कमरे का दरवाज़ा पूरा खोल लिया और अतृप्त दृष्टि से इकटक देखने लगा। हर क्षण देखने की मेरी इच्छा बढ़ने लगी। मैं बहुत देर तक वहाँ चुपचाप खड़ा रहा, और न जाने कितनी देर तक देखता ही रहता, पर परिचित हास्य-ध्वनि मेरे कानों में पड़ी! मैं तत्काल दरवाज़ा बन्द करने लगा तो स्वामीजी हँसकर बोले "बच्चा! उसे वैसा ही रहने दे"। जैसे मैंने कुछ अपराध किया हो, इस प्रकार मुझे शरम लगी; परन्तु स्वामी के पास जाकर उनके चरणों पर सिर झुकाया और अपने स्थान पर बैठ गया। स्वामीजी बहुत काल तक आपादमस्तक मेरी ओर देखते रहे। उनके उस देखने में इतना प्रेम और दया-लुत्व भरा था कि प्रत्येक बार मेरी हिम्मत बढ़ती जाती थी। कुछ देर के बाद योग्य मनःस्थिति में मुझे आया जानकर वे बोलने लगे—

स्वामीजी ने कहा। "अब तुझे तीसरे कमरे का मोह होने लगा है। जिस समय तुझे मैंने यह समझाने का प्रयत्न किया कि योग विशिष्ट रीति से किया हुआ कर्म ही है, उस समय मेरे

कहने के विषय में तुझे शङ्का आती थी। क्यों, सच है या नहीं ?

पर स्वामीजी ने उत्तर की राह नहीं देखी। वे बोलते ही गये "परन्तु वह लहर बहुत कुछ अब दूर होगई है। और तीसरे कमरे में एकाग्र मन से यदि तू बैठा रहेगा तो तेरी शंका दूर हो जावेगी। बच्चा, आज ये कमरे मैंने ही खोल रक्खे हैं। जिस कमरे की ओर तेरा चित्त विशेष आकर्षित करने की इच्छा थी, उसे मैंने अधिक खोला है। मेरा कार्य होगया ! अब तुझे मैं तेरे विषय की ओर ले जाता हूँ।"

इसके बाद स्वामीजी ने थोड़ी विश्रांति ली और उस काल में फिर से मुझे उन्होंने आपादमस्तक देखा। मैं बतला नहीं सकता कि इस समय मेरी उत्सुकता कितनी बढ़ गई थी ! मेरे कान और मन स्वामीजी के मुख से शब्द निकलते ही उसे अधर ही पकड़ने के लिए बिलकुल तैयार थे। न जाने कैसे मेरी स्थिति स्वामीजी को ज्ञात हो जाती थी ! वे हँसे और बोले, "इतना उतावला क्यों हुआ जाता है ? अधीर होकर सुनने का विषय यह नहीं !" मेरी शरम की ओर कुछ ख़याल न देकर वे मुख्य विषय पर बोलने लगे:—

"योग: कर्मसु कौशलम्" कहकर जो योग की व्याख्या भगवान् ने की है, उसमें उनका कुछ गूढ़ महत्त्वपूर्ण हेतु है। तू अब तक यह समझता था कि सर्व कर्मों का त्याग कर मन की निश्चलता सिद्ध करना ही योग है। तेरी समझ साफ़ साफ़

ग़लत नहीं कही जा सकती। इसके सिवा, श्रीभगवान् ने यह भी बतलाया है कि वह भी मोक्ष-प्राप्ति का एक मार्ग है। इस कारण कदाचित् तू अपना मत अधिक दृढ़ कर लेगा। परन्तु साथ ही उसके श्रीभगवान् ने जो दूसरा मार्ग बतलाया है, उसका अच्छी तरह से ख़याल रख। वह मार्ग कर्म-योग है।

मेरी कल्पना के अनुसार स्वामीजी का भाषण यहाँ रुक गया। मेरे मन में विचारों की सेना गड़बड़ करने लगी।

कर्म-त्याग और कर्म-योग दोनों एक ही मोक्षप्राप्ति के मार्ग हैं! क्या ही विचित्र बात है! क्या केवल श्रीभगवान् ने अथवा स्वामीजी ने बतलाया इसलिए मेरा मन ऐसी परस्परविरोधी बातों को भी मान ले इतना वह दुर्बल हो जावे! यदि कोई बतलाने लगे कि अमृत पीने से मनुष्य अमर होता ही है पर विष खाने से भी होता है तो क्या उसे हम पागलख़ाने में नहीं भेजेंगे? सब विद्या का बीजरूपी भगवान् यदि ऐसी विरोधात्मक बातें बतलाने लगें अथवा उसी के कहने का दैवी विद्यापूर्ण स्वामीजी भी समर्थन करने लगें तो कहना ही क्या है? ऐसे विचार मेरे मन में बड़े ज़ोर से चले थे, पर स्वामीजी पर मेरा पूरा विश्वास था, उनकी विद्वत्ता का मुझे परिचय मिल चुका था, और मुझे कई बार अनुभव मिल चुका था कि वे अपने कहने की प्रतीति बड़ी चतुरता से दूसरे को करा देते हैं, इस कारण ऐसे विचार करने से मेरा मन मुझे रोकता था। सारांश,

मैं शंकान्दोलन पर झूलने लगा। मुझे ऐसे दिङ्मूढ़ हुए देख स्वामीजी इतने ज़ोर से हँसे कि मैं डर ही गया ! वे बोले:—

"यह तेरी शङ्का पार्थ को भी उठी थी। इस कारण उसने प्रश्न किया—

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥३१॥

"हे भगवन् ! स्थितप्रज्ञ के लक्षण बतलाते समय तूने प्रतिपादन किया कि सब कर्म और उनके सङ्कल्प भी त्याग देनेवाला शांति पाता है, (गी० २, ६१, ६७, ७०); और अब तू मुझे संग्राम करके हत्या के समान घोर कर्म करने को बतलाता है !!! इस प्रकार मुझे क्या ज्ञान मिल सकता है ? हे देव ! अगर वैद्य ने पथ्यापथ्य के बड़े बड़े नियम बनाये और स्वयं उसी ने विष पिला दिया तो रोगी किस प्रकार अच्छा हो ? हे देव ! प्रथम तो मैं अज्ञानी हूँ ! फिर इस प्रकार मोह प्राप्त हुआ है। उस पर आप ऐसी अजीब अजीब बातें बतलाते हैं। आप उत्तम वैद्य हैं और माता के समान आपका मुझ पर प्रेम है, तब भी आप मुझे फँसाना चाहते हैं। मैं पूर्ण मतिमन्द हूँ मुझे ऐसा ही समझा जाय। क्या माता के पास भी दूध माँगने को कोई आपत्ति है ? कामधेनु अथवा चिन्तामणि मिल जाने पर सब कामनायें क्यों न पूरी की जायँ ? फिर हे देव ! आपके समान गुरु मिलने पर भी क्या सरल उपदेश की इच्छा न

करूँ ? हे देव, मुझे ऐसी एक ही बात बतलाइए, जिससे कि इह-परत्र में सुख हो।" स्वामीजी बोले—"बच्चा ! तेरे भी मन की यही दशा हुई है। श्रीकृष्ण ने जिस उत्तर से पार्थ की शङ्का दूर की, उससे तेरी भी शङ्का दूर हो जावेगी। इसलिए श्रीभगवान् का दिया उत्तर ही तुझे बतलाता हूँ। सुन, श्रीभगवान् ने कहा:—

"पार्थ ! मेरे बतलाये हुए इन दोनों मार्गों से उसी परम सुख की प्राप्ति होती है। क्या दो विरुद्ध दिशा से बहती हुई दो नदियाँ एक ही समुद्र को नहीं मिलतीं ? पर ये दोनों मार्ग एक ही दशा के मनुष्य को स्वीकार नहीं करने चाहिए। ये भिन्न भिन्न योग्यता के मनुष्यों के लिए हैं। सांख्य अथवा ज्ञानी का कर्म-त्याग और कर्मी का कर्म-योग ! कोई पक्षी उड़कर एक दम में वृक्ष के फल पर जा बैठता है, उस प्रकार मनुष्य नहीं कर सकता। उसे यदि फल मिलाना हो तो धीरे धीरे पेड़ से चढ़ कर फल के पास जाना चाहिए। इसलिए शीघ्रता के मोह में न पड़कर अपने विहित कर्म करते हुए मोक्ष-साधन कर (गी० ३. ३.)"। मैं कहने ही वाला था, कि "तब पहले मार्ग से जाने की इच्छा करना कोई अपराध नहीं कहा जा सकता !" कि स्वामीजी आगे बढ़े:—

"पहला मार्ग कितना कठिन है इसका तूने विचार किया है ? श्रीभगवान् ने उसके विषय में बहुत सूक्ष्म विचार किया है। कर्म-त्याग किस प्रकार करना चाहिए ? क्या कर्म का आरम्भ

ही न करने से वह सिद्ध हो जाता है? कर्म-त्याग करने पर सिद्धि कैसे प्राप्त होगी? तू ऐसा ख़याल कर कि नदी के दूसरे किनारे को जाना है। और यदि नाव न ली और तैरने का भी काम करना नहीं चाहा तो क्या यह मूर्खता नहीं होगी? पेट तो भरना है परन्तु अन्न पकावे कौन? तो वह भरे कैसे? बच्चा! मन की कामनायें, इच्छायें अथवा वासनायें नष्ट हुए सिवा ये कर्म-व्यापार कभी बन्द नहीं हो सकते। फलतः, यदि मोक्ष की इच्छा है तो कर्म करने ही चाहिए (गी० ३. ४)।"

"सच है! यदि मन में वासना है तो बाह्य कर्म-त्याग से क्या लाभ? जड़ तो रहने दी और झाड़ काट डाला तो क्या होता है? क्या उस झाड़ के कष्ट से बच सकते हैं? कदापि नहीं, क्योंकि फिर भी वह झाड़ निकलेगा, और ज्यादः ज़ोर से निकलेगा!" "निष्कर्मता से मोक्ष मिलेगा परन्तु मोक्ष की भी इच्छा मन में नहीं रखनी चाहिए! और यह यदि सच मान लिया तो भी ध्येय के सिवाय क्रिया कैसे हो सकती है?" मेरे मन में जो यह प्रश्न हलचल कर रहा था सो मानों बड़े बड़े अक्षरों में मेरे मुख पर लिखा ही था क्योंकि वह तत्काल स्वामीजी को ज्ञात हो गया! उस पर स्वामीजी बोले:—

"बस यही बात है! जो जिस योग्यता का हो उसे उस योग्यता का मार्ग ग्रहण करना चाहिए। देख, तुझे कल्पना भी नहीं हो सकती कि ध्येय के बिना और मन में किसी काम का निश्चय किये बिना ज्ञानी लोग किस प्रकार चलते होंगे! फिर

कितनी भारी भूल है कि उनके मार्ग से जाने का प्रयत्न कोई करे ? यह भूल कई लोग करते हैं। इस आर्यावर्त में जितने लोग अपने को वेदान्ती कहलाते हैं, उन सबकी यही दशा है। जिसे वेदान्त के प्रथम तत्त्व का यानी भूतदया का शाब्दिक भी ज्ञान नहीं है, ऐसा मूर्ख भी अपने को बड़ा ज्ञानी समझता है और 'मैंने कर्म त्याग किया है अथवा करनेवाला हूँ" कहकर झूठी शेखी दिखलाता है। फिर जो केवल शब्द-ब्रह्म में निपुण है, उसका कहना ही क्या है ? उसे शब्द-भ्रम ही हुआ है समझो ! शराबी का और उसका प्रलाप एक ही क़ीमत का है ! क्योंकि उसके तत्व मन में तो घुसे रहते ही नहीं। इस अपने वेदान्तगर्भा भूमि के अनेक अज्ञ बालकों का वर्णन एक सुभाषित वचन ने सर्वथा ठीक किया है:—

वागुच्चारोत्सवं मात्रं तत्क्रियां कर्त्तुमक्षमाः ।
कलौ वेदान्तिनो भान्ति फाल्गुने बालका इव ॥

ये कलियुग के वेदान्ती और फाल्गुन में गायन-वादन-पूर्वक महामंत्र का घोष करनेवाली बालक-सेना एक समान ही है। फाल्गुन में अनेक बीभत्स विषयों के आनन्द केवल वाचा से कितने लड़के मनाते हैं ? पर उनमें से एक को भी वे क्रिया में रूपान्तरित कर सकते हैं क्या ? वही दशा इन वेदान्तियों की है।"

इस प्रकार मुझे विचार-चक्र पर रख कर और गति दे, स्वामीजी विश्रान्ति लेने लगे। मैं घूमने लगा। उस समय ऊपर

बतलाये स्वरूप के वेदान्ती मेरी दृष्टि के सामने पड़े। उनमें तो कई ऐसे भी थे जो सब जगत् मिथ्या है, हम तो विश्वकुटुंबी हैं, विश्व ही हमारा कुटुंब है, कह कर विश्वयोषिताओं (जग की प्रत्येक स्त्री) से व्यभिचार कर्म करने को सदा तैयार थे। कुछ ऐसे भी लोगों का ख़याल आया जो कहते हैं कि हमें सोना, चाँदी और मिट्टी एक समान है परन्तु संन्यस्त रहने पर भी रुपये का रुपया ब्याज लेते हैं अथवा परद्रव्यापहरण करने के लिए नारायणस्वरूप का अमोघ साधन उपयोग में लाते हैं। यहाँ पर ऐसे कितने ही नमूने दे सकते हैं! सबने ही ऐसे पुरुष अनेक देखे होंगे। इस प्रकार मेरा विचार बहुत देर तक चलता रहा, और यहाँ तक ख़याल होने लग गया था कि यह जग इस ढोंग की केवल प्रदर्शनी है। इस कारण अब मुझे उसकी अधिकाधिक घृणा आने लगी। मालूम होता है मेरी यह दशा स्वामीजी को ठीक नहीं लगी। परन्तु उनके इस मत का कारण मेरी समझ में नहीं आया। वास्तव में तो ऐसे निर्जन और एकान्त स्थान में रह कर योगाभ्यास करने की इच्छा रखनेवाले अपने शिष्य को संसार से तिरस्कार करते देख उन्हें आनन्द होना चाहिए था। परन्तु न जाने क्यों इसके उलटी बात दीख पड़ी। स्वामीजी ने अपनी नाखुशी कह कर नहीं बतलाई, पर विषय बदलने के हेतु से वे बोलने लगे, "निष्कर्मता के मार्ग से जानेवाले ज्ञानी कर्म करते हैं ही. क्योंकि सब इन्द्रियों के कर्म त्याग देना—निष्क्रिय

होना—भी एक कर्म ही है।" यह युक्तिवाद मुझे बहुत भाया।

स्वामीजी बोलने लगे "यह तत्त्व तेरी समझ में शीघ्र आजावेगा। तुझे एक बात और बतलाता हूँ। सब कर्मेन्द्रिय यदि रोक रक्खे तब भी उन इन्द्रियों की ओर मन दौड़ता ही रहता है, इसे रोके बिना निष्कर्मता नहीं प्राप्त होती! और तुझे मालूम ही है कि मन की इस दौड़ को रोकना कितना कठिन है। मन का जो संयम नहीं करता उसे श्रीभगवान् "मिथ्याचार (ढोंगी)" कहते हैं। सारांश यह है कि पूर्णतया कर्म-त्याग करना असम्भव है और कर्म-त्यागी कहला लेना केवल ढोंग है। श्रीकृष्ण ने अर्जुन को यही बतलाया है:—

नहि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥ ३,५॥

"हे पार्थ! एक क्षणभर भी कोई निष्क्रिय नहीं रह सकता, प्रकृति के गुण—शरीर के मूल धर्म—ऐसे ही हैं कि ये किसी को कभी भी चुपचाप बैठने नहीं देते, किसी न किसी प्रकार वे हम पर अधिकार चलाकर हमसे कुछ न कुछ कार्य करवा ही लेते हैं। और विचार कर कि हमने अपने विहित कर्म त्याग दिये तो क्या सब बातों से छुट्टी मिल गई? क्या इन्द्रियों के स्वभाव छूट गये? कानों ने सुनना अथवा नाक ने घ्राण लेना बन्द कर दिया? प्राणापान वायु की गति बन्द

हो गई ? मन में संकल्प-विकल्प का उठना बन्द हो गया ? भूख-प्यास इत्यादि क्या हम भूल गये ? स्वप्न, सुषुप्ति, जागृति इनसे दूर हो गये ? क्या पैरों ने चलना बन्द कर दिया ? भला इनको रहने दो, क्या जन्म-मृत्यु बन्द होगये ? सब प्रश्न का उत्तर 'नहीं' ही होगा ! फिर कर्म-त्याग किया सो क्या किया ? सारांश यह है कि प्रकृतिवान् को यह साध्य नहीं है। यह कहना अनुचित होगा कि रथ में बैठने पर शरीर की हलचल न करने से स्थानान्तर नहीं होता। रथ के अधीन होने पर जिधर वह ले जावेगा उधर जाना पड़ेगा। सूखा पत्ता कुछ करता नहीं, पर वायु पर आरूढ़ होकर पर्वत से समुद्र में जा गिरता है। यही जीव की बात है। वह प्रकृतिवश हुआ कि प्रकृति उससे कर्म करवा ही लेती है। इसलिए कर्म-त्यागी कहलानेवालों का कर्म-त्याग की बात करना हठ-मात्र है, कर्म-त्याग सिद्ध नहीं होता। इसी लिए श्रीभगवान् ने अर्जुन को सचेत किया—

> नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
> शरीरयात्राऽपि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥ ३,७॥

"तू कर्म ही कर। क्योंकि निष्कर्मता से कर्म श्रेष्ठ है। देख, कर्म न करेगा तो तेरा शरीर-पोषण न हो सकेगा ! कदाचित् तेरे मन में यह प्रश्न उठे कि 'शरीर-पोषण इतना क्यों आवश्यक है ?' परन्तु अल्प विचार के बाद यह बात तुझे

ज्ञात हो जावेगी। तूने कई जगह पढ़ा होगा कि सब प्राणियों से मनुष्य का विशेष महत्त्व है क्योंकि वह ज्ञानवान् है। कई बार तूने यह बात सुनी भी होगी। आज तक शरीर का पोषण करके सशक्त और नीरोगी न रहा होता तो तुझे इतना अभ्यास करना शक्य न होता? इसी कारण एक सुभाषित प्रसिद्ध है कि "शरीरमाद्यं खलु सर्वसाधनम्"—शरीर धर्मसाधन का प्रथम साधन है। शरीर की रक्षा करना अपना पहला कर्तव्य है, परन्तु रक्षा करने का यह अर्थ नहीं है कि उसी को सार-सर्वस्व मान कर उसका खूब बड़प्पन करना चाहिए। सुवासित तेल और वस्त्राभूषणों से उसे सजाकर केवल उसी की सेवा में रात-दिन काटना ठीक नहीं। उसकी सेवा कर उसे सुस्थिति में रखने का यही अर्थ है कि आहारनिद्रा इत्यादि के नियम पालने चाहिए। श्रीभगवान् कहते हैं:—

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥ ६,१६॥
युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥ ६,१७॥

"बहुत खानेवाले को अथवा बिलकुल न खानेवाले को, अति स्वप्न देखनेवाले को अथवा अति जागनेवाले को, योग सिद्ध नहीं हो सकता। आहार, विहार, और निद्रा परिमित रहने से ही योग सिद्ध हो सकता है।"

ये श्लोक और उनका अर्थ सुनते समय "न चातिस्वप्नशीलस्य" चरण पर मेरा मन ठहर गया। मैं नहीं जान सका कि 'वाजबी से अधिक निद्रा लेनेवाले को' कहने के पलटे 'अतिस्वप्न देखनेवाले को' क्यों कहा है। मेरी पूर्व से ही भावना थी कि गीता में कोई शब्द निरर्थक नहीं है। फिर यह कैसी बात है? क्या फ़ोनोग्राफ के ध्वनिग्राहक यन्त्र के समान कोई विचारग्राहक यन्त्र स्वामीजी के कानों के पास था? उन्हें मेरा विचार कैसे अवगत होगया?

स्वामीजी कहने लगे "परमेश्वर ने शरीर में एक शक्ति रख दी है जिससे मनुष्य यह जान जाते हैं कि स्वाभाविक स्वास्थ्य के लिए किसी विषय का आवश्यक सेवन हुआ या नहीं। पेट भर गया ऐसा मालूम होना, निद्रा पूरी होगई यह जान लेना, इत्यादि उस शक्ति के उदाहरण हैं। श्रमपरिहार और अन्न-पचन के लिए जितनी गाढ़ी निद्रा आवश्यक होती है उतनी अवश्य आती है। स्वप्न या तो अत्याहार का परिणाम है, या न गाढ़ी नींद में ही हैं न ठीक जागते ही हैं ऐसी दशा में हमेशा के विषयों पर जो अपने विचार चले रहते हैं उनके विषय में स्वप्न देखते हैं। इस स्थिति को तन्द्रा कहते हैं। 'अत्यश्नतः' पद से अत्याहार निषिद्ध समझना चाहिए। इसलिए ऐसा जान लेना चाहिए कि 'स्वप्न-शीलस्य' पद से श्रीभगवान् ने तन्द्रा का निषेध किया है।

इस समय मुझे यह पढ़ने का ख़याल आया कि आलस से भी तन्द्रा बड़ी भयंकर बैरिन है। आगे ही हानिकारक विषयों

की ओर मन की सहज प्रवृत्ति हो जाती है, और तन्द्रा से उसे काफ़ी समय मिल जाता है। अब मेरे मन में जँचने लगा कि तन्द्रा में बिताया हुआ समय केवल व्यर्थ ही नहीं गया बल्कि उसका दुरुपयोग हुआ—वह बुरी बातों में लगा। क्या कोई ऐसा भाग्यवान् पुरुष होगा जिसे तन्द्रा में दीखनेवाले मनोहर विषयों के चित्र मुग्ध न करते हों? छिः! तन्द्रा-चेटकी बड़े बड़े योगियों को भी अपने मोह-जाल में फँसा लेती है। इसी कारण सब उसके विरुद्ध हैं। तन्द्रा के समय दो हैं। एक सबेरे और दूसरा रात के सिवा और किसी काल में निद्रा ली वह। वृद्ध लोग बतलाते हैं कि दिन को नींद नहीं लेनी चाहिए इसका यही कारण है। और "ब्राह्मे मुहूर्त्ते चोत्थाय" "Early to bed and early to rise makes a man healthy, wealthy and wise" इन सबका यही अर्थ है। कुछ देर के बाद स्वामीजी बोलने लगे:—

"बच्चा! अब तुझे यह जँच गया कि कर्म करना ही चाहिए, निपुणता-पूर्वक कर्म करना ही योग है। कदाचित् अर्जुन के समान तुझे भी शङ्का आवे, तब दिल में यह ख़याल रख कर कि "कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।" अर्जुन को फिर भी शङ्का आई थी। उसका उत्तर जो श्रीभगवान् ने दिया है उसे भी मत भूल:—

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते॥ ५,२॥

श्रीभगवान् कहते हैं "संन्यास (कर्मत्याग) और कर्मयोग इन दोनों मार्गों से मोक्ष की प्राप्ति होती है परन्तु, जिस प्रकार स्त्री, लड़के, जानवर सबको ही नाव दूसरे किनारे को ले जाती है, उसी प्रकार कर्मयोग ज्ञानी, अज्ञानी सबको ही उपयोगी है और इसलिए वह श्रेष्ठ है। "अब तुझे कर्म कैसे करना और कौन कर्म करना इत्यादि बातें क्रमशः बतलाऊँगा।" इसके बाद स्वामीजी एक पद कहने लगे:—

पद्य

योगी होवें। निजकर्म निपुणता पावें॥ ध्रु०॥
कर्म-फलों पर दृष्टि न देवें।
वही साधनों पर बैठावें।
विवेक-दर्शित पथ से जावें। सम्मति लेवें॥ १॥

—

आठवाँ परिच्छेद

अद्भुत आत्मविचार

मध्याह्न सन्ध्या-वन्दन के बाद फलाहार समाप्त हुआ। हिमालय के उस भाग में सूर्य की किरणें बहुत कष्टप्रद नहीं होतीं, तथापि यह सोच कर कि प्रत्यक्ष धूप में बैठना ठीक नहीं, मैं एक प्राकृतिक लता-मण्डप में जा बैठा। उस अकृत्रिम मण्डप में मुझे अकृत्रिम ही विचार सूझने लगे। गीता जैसे ग्रन्थों के अभ्यास से, किंवा मन के भिन्न भिन्न विषयों के ध्यान से और दृष्ट और श्रुत अनुभव से बने हुए कृत्रिम विचार उस समय मुझे त्याग गये थे। जिस वेली का मैंने आश्रय लिया था, वह एक झाड़ को पूर्णतया लिपटी थी। इसे देख कर मुझे अपने बचपन का स्मरण हुआ। हाय! मेरे कल्पित "बाबा" से बचाने के लिए मेरी दीदी मुझे इसी प्रकार अपने अञ्चल के नीचे ढाँक लिया करती थी! उस समय का दृश्य मैंने अपनी आँखों के सामने खड़ा किया और उससे इस वृक्षवेलीसम्मेलन के दृश्य की तुलना करने लगा। वह तुलना मुझे रुची हो या न रुची हो परन्तु इतनी बात सच है कि उससे मुझे घर का ख़याल आया। "मैं कहीं भाग गया हूँ" यह सुन कर मेरी दीदी को कैसा लगा होगा? मुझे गायन

का कुछ शौक है और मेरा रूप आकार भी इतना ख़राब नहीं है। इससे उसने कल्पना की होगी कि मैं किसी नाटक-कम्पनी में जा मिला। चार स्त्रियों के जमने पर मेरी दीदी मेरी बुद्धिमानी के बारे में बड़ी बड़ी बातें किया करती थी, पर अब बहुत शरमाती होगी? हमारे समाज का ऐसा खयाल होगया है कि नाटक में जाना बुरा है! आज-कल बड़े बड़े विद्वान् और श्रीमान् लोग नाट्यकला को ऊँचा दर्जा देने का प्रयत्न कर रहे हैं। जो स्त्री-पुरुष यह कहते हैं कि 'नाटक बुरा होता है, उसमें पुरुष स्त्रियों का वेष लेते हैं, और वह देखना पाप है' वे भी नाटक देखने को जाया करते हैं। परन्तु 'नाटक बुरी बात है' यह समझ भी कभी दूर नहीं हुई है अथवा वह दूर हो गई ऐसा कोई दिखलाता भी नहीं है? क्योंकि नाटक-कम्पनियाँ बढ़ती ही जाती हैं और वे सब अच्छी दशा में हैं। फिर इन्हें पैसे देनेवाले कौन? दोपहर को वक्तृत्व के समय मद्यपान का बड़ा कड़ा निषेध करनेवाले रायबहादुर, शाम को जनरल वाइन मर्चैंट्स की दूकान के कोने में ब्रांडी के ग्लास मुँह में लुढ़काते हुए दृष्टि पड़ेंगे! उसी प्रकार नाटक को कोसने के ये दावेदार नाटक के दिन थियेटर के दरवाज़े पर फेरी लगाते हुए नज़र आवेंगे! इसके साथ ही मुझे इस बात का ख़याल आया कि नाटककार प्रस्तावना में लिखा करते हैं कि मैंने नाटक में इस बड़े नीतितत्त्व का महत्त्व लोगों के मन पर प्रतिबिम्बित करने का प्रयत्न किया है। नाटककर्त्ता

ने बड़े प्रयत्न से कोई नीतितत्त्व अपने लेख में कैसा भी गूँथ दिया हो परन्तु क्या नाटक-कम्पनियाँ ऐसा अभिनय करती हैं कि जिससे उसका योग्य परिणाम होवे ? अभिनय उत्तम होने से भी क्या ? नाटक का धीरोदात्त नायक (जिसका लोगों के सामने उदाहरण है) मद्यपी है इतना ज्ञात होते ही उस समय का उसका साविर्भाव वक्तृत्व मद्यपान-निषेध की बतंगड़ के समान हास्यास्पद हो जाता है। नाटक कैसा भी उत्तम क्यों न हो परन्तु यह मुझे नहीं जँचता था कि नाटक के अभिनय से नीति का फैलाव हो सकता है। देखने और सुनने से मेरा निश्चय होगया था कि नाटक-कम्पनियाँ केवल स्वेच्छाचरण के स्थान हैं। कम्पनी में घुस कर निर्व्यसनी रहनेवाला पुरुष बिरला ही मिलेगा। इन नाटक-कम्पनियों ने अगली पीढ़ी के बलवान् रोपाओं की जड़ में कीड़ा लगा दिया है। इन्हीं कम्पनियों ने मधुर कण्ठ के सुन्दर बालकों को अपने माता-पिता का अपने ऊपर का अधिकार एक ओर झोंक देना और अपने कर्त्तव्य को पैरों तले कुचलना सिखलाया। इन्हीं ने ही हमारे बालकों के अपरिपक मन में नटना, नखरे करना, और स्वत्व को भूल जाना, आदि की नाटकी शोभा की रुचि उत्पन्न की ! आगे कभी जिन्होंने शूरता के काम किये होते उन्हें इन्होंने स्त्रियों के रङ्ग-ढङ्ग सिखलाये ! नाटक-कम्पनी यानी सब व्यसनों का सागर ! तुलसीदास, सूरदास इत्यादि साधु-सन्तों की नक़ल करने का

इतना प्रयास करने पर भी और साविर्भाव वक्तृत्व देने पर भी पात्रों के मन पर जो नीतितत्त्व का कुछ भी परिणाम न हुआ, तो केवल दिल बहलाने की इच्छा से नाटक देखनेवालों के विलासी मन पर उसका क्या प्रभाव पड़ सकता है ? वाह ! वृत्तवेलीसंमेलन के देखने से घर की ओर झुका हुआ मेरा मन विचार-प्रवाह में कहाँ बह गया ? इस समय मुझे नाटक-कंपनियों के भले-बुरे से क्या करना है ? इस समय तो निज का ही खयाल रखना अच्छा । मुझ जैसे चंचल मन के मनुष्य को समाज के सब दोष दूर करने का कष्ट क्यों करना चाहिए ? ऐसे विचार आते आते मन में ऐसा विचार भी आया कि माता-पिता को दु:ख में छोड़ आया सो ठीक नहीं हुआ। मैं कर्त्तव्यच्युत होगया यह खयाल मन में चुभने लगा और "केसरी" में दिया हुआ 'हमारे लड़के को ढूँढ़ देनेवाले को पाँच रुपये इनाम' का मेरे पिता के हस्ताक्षर का विज्ञापन मुझे मेरी आँखों के सामने स्पष्ट दीखने लगा। तेरी माता प्राण त्यागने के लिए तेरी राह देख रही है ! वह बहुत अचेत दशा में पड़ी है' ये बड़े बड़े अक्षरों में लिखे हुए काले काले वाक्य मेरे नयनों के आगे नाचने लगे ! मेरे चर्मचक्षु अश्रुप्रवाह से पूर्ण हो जाने से देखने का काम न कर सकते थे तो भी जिधर मैं मुँह फेरता, उधर ही वे अक्षर मुझे दीखते थे। मुझे अभी तक नहीं सूझा कि मैं उन्हें किसके द्वारा और कहाँ देख रहा था । मेरा

दु:ख-पूर्ण अन्त:करण नेत्र-द्वारा अश्रुप्रवाह बहाने पर कुछ हलका हुआ। विषयान्तर करने की इच्छा से मैं स्वामीजी की दी हुई शिक्षा का पर्यालोचन करने लगा; परन्तु उपर्युक्त विचार से मैं थोड़ा भी दूर हुआ कि फिर से मन मेरी कर्त्तव्यच्युति की ओर दौड़ जाता था। आख़िर इस प्रकार थक जाने पर गीता खोल कर पढ़ने लगा। कुछ देर तक तो गीता के केवल अक्षर ही पढ़ता था। फिर मन में के दृश्य दूर होने लगे। माता की मृत्यु-शय्या अब दीखना बंद होगया। दौड़ कर उसके चरण में गिरने की उत्कंठा भी दूर हो चली। श्लोक पढ़ते पढ़ते, पोथी और उसके पन्ने की जगह मुझे दीवालें दीखने लगीं और ऐसा मालूम हुआ कि गीताश्रम के तीसरे कमरे में हूँ। कर्म करना चाहिए ऐसा बतलाने के लिए स्वामीजी के उपयोग में लाये हुए 'नियतं कुरु कर्म त्वं' इत्यादि लाल अक्षरों से लिखे हुए श्लोक मैंने पढ़े और फिर—

यस्त्वात्मरतिरेवस्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥३,१७॥
नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥३,१८॥
तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥३,१९॥

ये सुनहरे अक्षरों से लिखे हुए श्लोक देखे। सुनहरे अक्षरों से लिखे हुए श्लोक थोड़े हैं और यह तीन ही हैं तो अवश्य ही इनका इतना अधिक महत्त्व होगा, इस विचार से उनका अर्थ समझने का प्रयत्न करने लगा।

"जो केवल आत्मा पर प्रीति करता है, जिसे आत्मा के कारण ही तृप्ति और संतोष का लाभ होता है, उसे कर्म करने के लिए कारण नहीं रह जाता। उसने कर्म किया तो लाभ नहीं और न किया तो नुक़सान नहीं। और उसकी कोई भी इच्छा (आत्मा के सिवा) दूसरी वस्तु पर अवलंबित नहीं रहती। इस लिए अर्जुन कर्म कर" इत्यादि इत्यादि पहले दो श्लोकों के अर्थ से जो विचार उत्पन्न हुए वे मन में घुस कर गड़बड़ मचाने लगे। इस कारण तीसरे श्लोक का अर्थ मैंने नहीं समझा।

श्रीभगवान् ने इन दो श्लोकों में यह बतलाया है कि किसके कर्म न करने से कोई हर्ज नहीं। जिसे कुछ कार्य नहीं उसे 'आत्मतृप्त:' 'आत्मन्येव संतुष्ट:' और 'न चास्य सर्वभूतेषु कश्चि-दर्थव्यपाश्रय:' इत्यादि विशेषणों से दर्शित किया है। जिसे कर्म त्याग करना है उन्हें चाहिए कि अपने को इन विशेषणों के लायक वे बना लें। क्या हम आत्मरति हैं? क्या हमारी केवल अपने पर ही प्रीति है? क्या अन्य स्त्री-पुरुषों के विषय में हम उदासीन हैं? क्या 'आत्म'-तृप्ति के लिए दूसरे किसी पदार्थ की आवश्यकता नहीं होती? क्या अपने संतोष के लिए किसी भी बाह्यार्थ की आवश्यकता नहीं होती? क्या अपना कोई कार्य

किसी भी वस्तु पर अवलंबित नहीं होता ? उत्तर तो सब पर प्रकट है ही।

कभी कभी बड़े अभिमान से 'मुझे किसी की गरज नहीं' कहने की हममें से अनेकों की आदत है। परन्तु थोड़े ही विचार से ज्ञात हो जावेगा कि ये अपने शब्द केवल निरर्थक हैं। एक पाश्चात्य तत्त्वज्ञानी का कथन है कि 'जिसकी आवश्यकतायें कम, वह अधिक सुखी है।' इस श्लोक में जिसकी अत्यन्त कम आवश्यकतायें हैं अथवा लगभग कुछ भी नहीं है, ऐसा पुरुष चित्रित है। ऐसा व्यक्ति अत्यन्त असंभव है। परन्तु यह एक उच्च आदर्श है। अपनी आवश्यकतायें धीरे धीरे कम करनेवाले का वह आदर्श है। जिस सामान्य गुण के विषय में तुलना करनी है, उस गुण से युक्त प्रथम दर्जे के पदार्थ की उपमा लोग कम दर्जे के पदार्थ को दिया करते हैं। इसलिए 'उपमान' की परिभाषा बहुधा सब जगह उपमेय (standard of comparison) की अँगरेज़ी परिभाषा के समान ही की जाती है। उसी प्रकार कोई भी आदर्श उस विषय के अत्यन्त उच्चतम सीढ़ी का दर्शक होता है। अक्षर सुधारने के लिए जो नमूना आगे रखा जाता है, वह अत्यन्त सुस्वरूप अक्षरों का ही रहता है। उतने सुन्दर अक्षर बनाने की इच्छा रखने से उतने नहीं तो उसके बहुत कुछ समान अक्षर बनने लगते हैं। इसी प्रकार श्रीभगवान् ने जो नमूना हमारे सामने रखा है उससे जो भी हम पूर्ण स्वावलम्बी न होंगे तथापि यह बात निश्चित है कि

हमारी आवश्यकतायें बहुत कम हो जावेंगी। वह आदर्श होने के कारण वह स्थिति असाध्य है। फिर 'मुझे किसी की गरज नहीं' ये शब्द किस क़ीमत के? शास्त्राधार से यह तत्त्व सिद्ध होगया, पर व्यवहार में उसका बोध कैसे हो इसलिए मैं आत्म-निरीक्षण करने लगा। 'धन-पुत्र-दारा इत्यादि विषयों का हमारा प्रेम (जो भी वह सर्वस्वनाश का कारण भी क्यों न हुआ हो) कभी कम नहीं होता'। पूर्वकाल के हमारे चतुर पूर्वजों का यह वाक्य आज मुझे अनुभव से सच जँचने लगा। क्योंकि थोड़े ही काल पहले अनुभव मिला था कि विषय-प्रेम अपने सद्विषयाभ्यासी मन को भी किस प्रकार अपनी ओर खींच कर दुःख देता है। मध्याह्न के समय सब बातों को भूल कर उदर-महाराज की सेवा में जब सब इन्द्रिय और प्राण लग जाते हैं तब उसकी भक्ष्याधीनता की सत्यता किसे न जँचेगी? बड़े राजा को भी एक बिलकुल मामूली वस्तु की गरज होती है और उनके बिना उसका कार्य्य चलता ही नहीं! फिर क्या हम कह सकते हैं कि हमें किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं? शरीर-रक्षण के लिए हमें अन्न खाना पड़ता है और वह भी पेट भरते तक। परन्तु जब कभी कम खाया गया तो 'मुझे अग्निमांद्य का विकार हुआ, भूख कम हो गई' समझ कर हम वैद्यों की ओर हिंगाष्टक के लिए दौड़े जाते हैं। सिर्फ़ कल्पना-वशात् कितनी आवश्यकतायें लोग उत्पन्न कर लेते हैं। विचार करने पर दीख गया कि न मैं, न जग का कोई और, उस विशेषण के पात्र

है। फिर तत्काल जँच गया कि कर्म-त्याग सबको ही असाध्य है।

इन दोनों श्लोकों में किया हुआ वर्णन अर्जुन को भी लागू नहीं होता था। क्योंकि दुर्योधनादि अपने स्वकीयों का अपने हाथों किया हुआ वध उसे सदैव का वियोग मालूम होता था। इसलिए यही कहना ठीक होगा कि उनकी उसे गरज़ थी। इसी लिए श्रीकृष्ण ने उसे कर्म करने के लिए उपदेश दिया।

बाद इसके लाल अक्षरों से लिखे और पाँच श्लोक पढ़े। उनमें जनकादिक क्षत्रियों का उदाहरण देकर यह बतलाया है कि 'उन्हें भी कर्म करने से ही मोक्ष मिला इसलिए तू भी कर्म कर।' फिर उन्होंने कहा, "मुझे अप्राप्त कुछ नहीं और न कोई वस्तु मुझे पाना ही है तो भी मैं कर्म करता रहता हूँ। मुझे कर्म क्यों करने चाहिए" इस बात का विचार कर। विदेही जनक के, किंवा पूर्णकाम श्रीकृष्ण के कर्म करने का कारण श्रीभगवान् ने उन श्लोकों में दिया है। 'श्रेष्ठ लोगों का आचार ही साधारण लोगों का धर्म है।' फिर श्रेष्ठजनों ने यदि लोक-स्थिति के (जिनसे समाज बे-रोकटोक सीधा चलता रहे ऐसे) आवश्यक कर्म नहीं किये तो लोकनाश का पाप उन्हीं के सिर मढ़ा जायगा।

सारांश, श्रीभगवान् का उपदेश है कि सिद्ध, अज्ञानी, मुमुक्षु, विषयी इत्यादि प्रत्येक को कर्म करना ही चाहिए, नितांत निरपेक्ष मनुष्य को भी लोकोपकार के लिए योग्य धर्म से चलना ही चाहिए। जिस प्रकार अन्धे को रास्ते से चलाकर उसके इच्छित स्थान पर पहुँचाने के लिए कोई आँखवाला चाहिए, उसी प्रकार धर्मज्ञों का कर्तव्य है कि वे अपने विहित कर्म करें और धर्मान्धों को योग्य रास्ता दिखलावें। नहीं तो वह मार्ग किसी को न सूझेगा।

श्रीभगवान् के इस युक्तिवाद को देख कर बड़ा आनन्द मालूम हुआ। पहले कर्म-त्याग से कर्मयोग श्रेष्ठतर है इसलिए उसे स्वीकार करने के लिए बतलाया और फिर उपदेश दिया कि तू अज्ञानी है इसलिए कर्म कर, और अन्त में यह प्रतिपादित किया कि ज्ञानी भी हुआ तो भी लोकसंग्रह के लिए कर्म करते जा। फिर कर्माचरण से मुक्त कौन है? कोई नहीं! अर्जुन अपने को कुछ भी समझे—ज्ञानी, अज्ञानी, सिद्ध, मुमुक्षु कुछ भी क्यों न समझे। उससे कर्म करवाने का श्रीकृष्ण का उद्देश सिद्ध हुआ देख किसे आनन्द न होगा और आश्चर्य न लगेगा?

इस आनन्द से मन हलका (यानी विचार करने के अयोग्य) हुआ और इस कारण वह बहुत देर तक शून्यविचार था। जब फिर से वह पूर्वस्थिति को प्राप्त हुआ तब ज्ञात हुआ कि तीसरे कमरे में न होकर मैं चौथे में प्रवेश कर रहा हूँ!

चौथे कमरे में मुझे एक ही श्लोक सामने की दीवाल पर बड़े अक्षरों से लिखा हुआ मिला:—

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
विवस्वान् मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेब्रवीत् ॥ ४, ७ ॥

इस श्लोक के पढ़ते ही अनेक लोगों के तरह तरह के वाद-विवाद का स्मरण हुआ। इसमें श्रीकृष्ण ने कर्म-ब्रह्मार्पण-योग की परम्परा बतलाई है कि मेरे पास से विवस्वान् (सूर्य) को, उसके पास से मनु को, और मनु के पास से इक्ष्वाकु को वह मालूम हुई। इस परम्परा में के विवस्वान् के विषय में विद्वानों का बड़ा झगड़ा चला है। पर मैंने विचार किया कि इस विद्वत्ता के झगड़े में पड़ने का मुझ अज्ञानी को कोई काम नहीं! इस कारण मैं उसका मनन करने लगा! पहले पहल कर्म-ब्रह्मार्पण-योग के 'ब्रह्मार्पण' का यहाँ क्या विशेष उपयोग है यही सोचने लगा। ब्रह्म को (विहित) कर्म अर्पण करने पर उनसे सुख अथवा दुःख जो कुछ होने का होगा, उसकी बाधा न होगी, इतना ही इस अध्याय में बतलाया सा जान पड़ा। इसलिए ब्रह्मार्पण करना यानी फलेच्छा न रखना यानी निष्काम कर्म करना ही केवल 'कर्मब्रह्मार्पणयोग' का अर्थ है। फिर कर्मयोग और कर्म-ब्रह्मार्पणयोग में अंतर ही क्या? फिर श्रीभगवान् ने यह कर्मयोग प्रथम विवस्वान् को बतलाया, इसका क्या अर्थ है?

सूर्य प्रत्यक्ष ईश्वर है, सूर्य जग का आत्मा कहा जाता है, और ऋषियों ने सोदाहरण बतलाया है कि सूर्योपासना करनी चाहिए। सूर्योदय के पूर्व उठना और सूर्यास्त के बाद सोना यह सर्वत्र रूढि है। प्रातःसन्ध्या, मध्याह्नसंध्या, और सायंसंध्या उपासना के तीन काल हैं। उनके विषय में मैं विचार करने लगा। सूर्य से जग को इतना भारी लाभ है इसलिए उसका कृतज्ञ होना आवश्यक है। पर तीन बार उपासना करने में कृतज्ञता दिखलाने के सिवा और कुछ अधिक होना चाहिए! उसका उदाहरण हमेशा हमारे सामने रहे, इसलिए तो नहीं? तत्काल मुझे विवेकस्वामी का अंतरङ्ग में दर्शन हुआ—उस उजियाली रात की याद आई। उस रात्रि का स्मरण मेरे आनन्द का उत्तम साधन था, मैंने थोड़ा सा सोचा था कि यदि सूर्य स्वकर्म का त्याग कर दे तो जग का नाश हो जावेगा। तत्काल मेरी दृष्टि में आया कि 'स्वकर्मतत्परता' ही उसका आद्य गुण है। "सूर्य कर्मयोगी है, सवेरे से शाम तक (ये समय भी उसी के कर्म से निश्चित हैं) जग को प्रकाश देने से वह सदैव निष्काम कर्म करता रहता है। जिस समय ब्राह्मण सम्मानपुरस्सर मन्त्र कह कर उसे अर्घ्य अर्पण करते हैं, उस समय उसका कार्य दुगुना नहीं हो जाता, और बूट पतलून वा सूट पहिने मुँह भी न धोते चाय के अर्घ्य चमचे से पेट को अर्पण करनेवाले द्विजों की संख्या बढ़ती है, इस कारण वह अपने कर्म में शिथिल भी नहीं होता।

इससे क्या यह नहीं सबूत होता कि वह फलेच्छारहित है। फिर ऐसा चिरकाल टिकनेवाला, सबको दीखनेवाला और सब पर उपकार करनेवाला, इसलिए पूज्य जँचनेवाला, कर्मयोगी यदि इस गुण के कारण हमारे लिए आदर्श न हो तो कौन हो?" अब मुझे जँचने लगा कि श्रीभगवान् ने प्रथम सूर्य को कर्मयोग बतलाया इसका यही अर्थ है। मेरी बुद्धि ने यह भी बतलाया कि सूर्य के कर्म का सूक्ष्म दृष्टि से विचार करनेवाले राजाओं ने यह गुण उसी के पास से लिया है। इसके बाद के श्लोक में बतलाया है कि यह परम्पराप्राप्त योग कुछ काल के बाद नष्ट होगया। इससे निश्चित होगया कि यह उपदेश सूर्य को ही दिया। कारण, यह कहना सयुक्तिक न होगा कि इहपरत्र कल्याण करनेवाला योग अपने पिता के पास से जान लेने पर इतर संपत्ति के साथ पुत्र को देने की रीति पिता ने बन्द कर दी। किसे इच्छा नहीं रहती कि अपने पुत्र का कल्याण हो? फिर यह कैसे सम्भवनीय है कि श्रीभगवान् के पास से परम्पराप्राप्त योग प्रत्येक पिता अपने पुत्र को बतलाना भूल गया? अब सूर्यपक्ष का विचार करें तो दीख जावेगा कि उपनयन के समय प्रत्येक पिता पुत्र को सूर्योपासना बतलाता है। यानी वह कर्मयोग के लिए अप्रत्यक्ष गुरु ही है। यह परंपरा अभी तक चलती है, पर सूर्योपासना का रहस्य जानने की सूक्ष्मबुद्धि क्षीण होते होते नष्ट होगई। संध्यावंदन करना यानी आचमनी

खड़खड़ाना, नाक धरना, टिचकी और ताली बजाना इत्यादि एक कसरत ही है। इस कारण ऐसा कहना ठीक होगा कि वह योग नष्ट होगया। गुरु-परंपरा नहीं रही। फिर से रहस्यभेदी बुद्धि को जगाने से कर्मयोग का पुनरुत्थान क्या नहीं होगा? इस श्लोक के विषय में विचार करते समय संध्यावंदन का महत्त्व और उसका सच्चा उपयोग समझने से मुझे अतीव आनंद हुआ।

दीवाल के उस श्लोक पर दृष्टि थी और मन में ऐसे विचार चल रहे थे, ऐसे समय एक हाथ दिखलाई पड़ा, कुछ ऐसा आभास हुआ कि वह कुछ इशारा कर रहा है। इशारे की ओर तो प्रथम मेरा ख़याल गया नहीं, वह किसका हाथ था इसी बात की ओर प्रथम ख़याल गया। इस कारण इशारे का अर्थ मैं नहीं समझा। परन्तु कई बार देखने पर भी कोई न दिखलाई दिया। इसलिए उस इशारे के अनुसार चलने लगा। वह दिशा ज्ञानयोग की ओर थी, और उसका विशेष संकेत अठारहवें कमरे की ओर था। मैं उधर देखने लगा तो वहाँ वैसा ही एक हाथ खुली खिड़की में से उधर आने को इशारा कर रहा था, इन दो हाथों के कारण मुझे अठारहवें कमरे में जाना ही पड़ा। मेरे चित्त को आकर्षण करनेवाले मैंने वहाँ चार श्लोक पढ़े।

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्मप्राहुर्मनीषिणः।
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे ॥ १८, ३ ॥

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम ।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः संप्रकीर्तितः ॥१८,४॥
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥१८,५॥
एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च ।
कर्त्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥१८,६॥

इस अध्याय में गीता का उपसंहार है, इसमें श्रीकृष्ण ने अर्जुन को अपने निश्चित मत बतलाये हैं। ऊपर के श्लोकों में 'सब कर्म दोषवत् त्याग देने चाहिए' और 'यज्ञ, दान और तप इन तीन बातों का त्याग नहीं करना चाहिए' यह परस्परविरुद्ध वाद दूर किया है। श्रीकृष्ण ने अपना यहाँ निश्चित मत दिया है कि 'यज्ञ दान तप के समान विहित और पावन कर्म करना ही चाहिए।'

यह साफ़ दीखता है कि कर्म करना ही चाहिए। परन्तु वह कैसे करना यह न मालूम होने के कारण अथवा मालूम भी रहा तो तद्वत् आचरण न हो सकने के कारण यह कहने का मौक़ा आता है कि कर्म ही न करना चाहिए। 'नाच न आवे आँगन टेढ़ा'! मेरे विचारों का सारांश यह था कि–कर्मयोगी श्रीकृष्ण, सूर्य, मनु, इक्ष्वाकु और जनकादिक राजाओं का उदाहरण देखकर विहित कर्म करना ही चाहिए।

यदि यह निश्चित हो गया कि कर्म करना ही चाहिए, तो वह कैसे करना और विहित कर्म कौन सा इतना ही प्रश्न बचा। परन्तु स्वामीजी ने पहले ही बतला रखा था कि मैं इसके विषय में बतलाऊँगा। इस कारण वे क्या बतलावेंगे इस विषय में विचार करते करते मैं पुष्करिणी की ओर चला गया।

जब मैं स्नान के लिए उठा उस समय मालूम हुआ कि मैं गीताश्रम में नहीं हूँ, बल्कि प्राकृतिक वेली के मंडप में हूँ, तो क्या अभी तक मैं केवल आभास में ही विहार कर रहा था?

नवाँ परिच्छेद

कर्म कैसे करना ?

स्वैर-संचार करनेवाले मेरे विचारों के प्रवाह स्वामीजी के उपदेश से चारों ओर बँध जाने के कारण अब केवल कर्मयोग-रूपी तराई में बहते थे। आश्चर्यचकित मन से इसे देखते हुए मैं गीताश्रम में अपने स्थान पर बैठा था। उनके मुख पर अवर्णनीय प्रफुल्लता दीख रही थी। 'घर छोड़ते समय मेरे मन में जिस योग का विचार चला था, और अब स्वामीजी की सहायता से जिस योग का प्रतिबिंब मेरे मन पर मुद्रित है, उन दोनों में कितना अंतर है !' इस विचार से मेरा आश्चर्य और ही बढ़ा जाता था। इस दिशा में मेरा कुछ काल चला गया।

मेरी आँखों की एकटकी स्वामीजी के मुख पर लगी थी। उसके द्वारा उनके मुख की बढ़ती हुई प्रफुल्लता का ज्ञान मुझे हो जाता था। बढ़ते बढ़ते यह प्रफुल्लता इतनी बढ़ गई कि उसका तेज मैं न सह सका। पर यही मालूम होता रहा कि आज स्वामीजी मुझे कुछ अद्वितीय उपदेश देंगे और उनसे किसी गूढ़ रहस्य का ज्ञान प्राप्त होगा। कविकुलगुरु की उक्ति—भक्त्योपपन्नेषु हितद्विधानां प्रसादचिह्नानि पुरःफलानि—का मुझे स्मरण हुआ और अनुभव के बाद वह सच ही निकली।

उनकी प्रफुल्लता फिर से बढ़ने लगी। अब मेरी आँख उस तेज से दीप्त होगईं! मैंने गर्दन नीची कर ली। बीच बीच में उनकी ओर देखते जाता था। जब टेढ़ी नज़र से भी उन्हें देखना कठिन होगया, तब मेरे मन को बहुत ही बुरा लगा। क्या मुझे स्वामीजी का मुख कभी देखने को न मिलेगा? क्या उनका तेज इसी प्रकार बढ़ता ही जावेगा? बोलने लगेंगे तो उनकी बातें सुनाई देंगी या नहीं? ऐसे अनेक प्रश्न मेरे मन में उत्पन्न हुए और मैं रोने लगा। मेरे अश्रु से बहुत-सी भूमि गीली होगई। फिर मुझसे न रहा गया, फूट फूट कर रोने लगा। परन्तु तत्काल स्वामीजी गाने लगे:—

जय जय रामकृष्ण गुरुराया।
जन-तारनहित जग में आया॥ ध्रु०॥
समाधिसुख के हास्य वदन से।
करता रोमांचित सब काया ॥१॥
विवेक मैं जनचित्तविहारी
मूर्त होय तव शरण समाया ॥२॥
तव आज्ञा से भगवद्गीता
तत्त्व बताने जग में आया ॥३॥

स्वामीजी का स्वर नित्य के समान ही मधुर था, पर आगे कभी इतने सप्तम तक नहीं पहुँचा था। इसके सिवा, आज जो प्रेम व्यक्त हो रहा था, वह कभी आगे नहीं देखा था। उनका

बढ़ता हुआ तेज असह्य होने के कारण उनकी ओर देखना मैंने छोड़ दिया था, परन्तु मुझे मालूम भी नहीं कि गाना शुरू होने पर उनकी ओर मैंने कब सिर उठा कर देखा। इस पद्य की एक-दो-तीन आवृत्तियाँ होगईं। फिर वे केवल ध्रुपद ही बहुत देर तक कहते रहे। मेरे कान उस गाने की ओर थे, पर मन उसके विषय में विचार कर रहा था।

"स्वामीजी 'जय जय रामकृष्ण गुरुराया' कह कर किसका स्मरण कर रहे हैं? क्या रामकृष्ण नामक कोई उनके गुरु थे? स्वामीजी के गुरु—कितने विद्वान्, कितने उदार, कितने तेजस्वी होंगे? क्या वे इसी हिमालय पर होंगे? उनका स्वामीजी मुझे दर्शन करा देंगे? अहाहा! कितनी आनन्ददायक बात होगी।" इस कल्पना के बाद 'विवेक मैं जनचित्तविहारी' पर मेरा ध्यान गया। स्वामी कहते हैं, 'सब लोगों के चित्त में विहार करनेवाली विवेकशक्ति मैं ही हूँ'! तब तो मुझे सब रहस्य ज्ञात हो जावेगा! मेरे विचार—विकार इत्यादि जो स्वामीजी को तुरन्त ज्ञात हो जाते हैं, उसका कारण कदाचित् उनका जन-चित्तविहारित्व ही होगा। उन्होंने एक बार मुझे अंतरंग में दर्शन दिया था। पहले ही मैंने उनके सिंहासन पर "हृदयस्थो विवेक:" पढ़ा था! वाह! इन सब बातों का रहस्य अब खुलने लगा, स्वामीजी की 'मूर्त्त होय तव शरण समाया' यह कब की बात? क्या इस समय उन्होंने जो मूर्ति धारण की है, उसी के विषय में उनके विचार चले हैं? हाँ! कदाचित्

ऐसा ही हो ! क्योंकि वे ही कहते हैं "मैं तुम्हारी आज्ञा से ही भगवद्गीता-तत्त्व बताने जग में आया" ये विचार चले थे तब मेरे नेत्र स्वामीजी के मुख पर और कान उनके गायन पर लगे हुए थे। इस कारण उनके नेत्रों के अश्रु और स्वर का करुण मार्दव तत्काल मुझे ज्ञात होगया। और इसी कारण मेरे विचार भी रुक गये। उस प्रेम को देखकर मेरी जो दशा हुई, उसका वर्णन मुझसे यहाँ पर नहीं हो सकता। इतनी बात सच है कि खड़ा होकर मैं 'जय जय राम-कृष्ण गुरुराया' कहते हुए नाचने लगा! इस दशा में मेरा कितना काल बीता, यह मुझे नहीं मालूम !

मेरी उस स्थिति को देखकर स्वामीजी ने मुझे मेरे स्थान पर बिठाया। उनका चेहरा अब सौम्य होगया। वे भाषण करेंगे ऐसा देखते ही अपनी स्वैर मनोवृत्तियों को मैं रोकने लगा। परन्तु जो कुछ बीत चुका था, उसके कारण उनका संय-मन शीघ्र न हो सकता था। यह भी बात स्वामीजी को मालूम होगई। वे हँसे और बोलने लगे:—

"बच्चा! आज इस विदेही स्थिति का रहस्य जाने सिवा महत्त्व का कोई विषय सुनने लायक़ तेरी स्थिति न होगी। इसलिए सुन। सब लोगों के चित्त का विवेक मैं हूँ। बहुत काल तक केवल भौतिक शास्त्रों का अध्ययन करने से मेरा मन मलिन होगया था, और अध्यात्मविचार के योग्य मैं न था। मुझे मालूम हुआ कि वह मलिनता दूर करने के लिए मुझे

गुरु-सेवा ही करनी चाहिए। भगवान् श्रीकृष्ण ने इस जग के उद्धार के लिए 'रामकृष्ण परमहंस' नाम से बंगाल में अवतार लिया और मैं भी 'नरेन्द्र' नाम से जन्मा। उनकी सेवा से मलिनता दूर की, (अमेरिका में गीताबोध करने पर) अपनी उज्ज्वलता की सत्यता देख ली और फिर अपने स्वरूप में प्रविष्ट हुआ; यही मेरे अवतार का रहस्य है!"

जय जय स्वामी विवेकानंद! जय स्वामी विवेकानंद! मेरे गुरु स्वामी विवेकानंद! मेरा चित्त आनंद से नाचने लगा। वह अवतार पूर्ण हो जाने पर निराकार में लीन हो जाने की बात स्वामीजी ने कही। फिर वे यहाँ साकार होकर कैसे और कब आये? क्या मेरे लिए ही यह रूप उन्होंने धारण किया होगा? अहाहा!!! मेरे आनंद का पारावार न रहा! तत्काल हास्यध्वनि मुझे सुनाई दी, इस कारण मेरे विचार वहीं रुक गये। स्वामीजी कहने लगे, "रोक, रोक, अपना आनंद रोक! अति न होने दे। तेरे लिए मैं मनुष्यरूप हुआ, यह बात सच है! परन्तु यह अवतार तेरे लिए ही नहीं है। मेरी वाणी अमेरिका से यहाँ रूपान्तरित होकर आई है। परन्तु कई लोग उसका रहस्य ठीक ठीक न समझ सके। इसलिए भरतखंड को आकर्षित करने लायक़ एक दूसरी वाणी में मैंने वह रहस्य भर दिया है, वह उसे शीघ्र ही देखने को मिलेगा। परन्तु तेरे समान कई अज्ञानियों को उसे पढ़ने की इच्छा न हो, इस कारण कुछ मनोरंजक रीति से गीतार्थ का—यानी कर्मयोग

का—विवेचन तुझे इस तरह सुना रहा हूँ ! इससे पाठकों को गीता की मधुरता ज्ञात हो जावेगी और उस रहस्य को जानने की उन्हें इच्छा होगी।" स्वामी रुक गये। अब मुझे मालूम होगया कि बतलाये हुए उपदेश का मुझे क्या उपयोग करना चाहिए। मेरी वृत्ति निर्मल देख कर स्वामीजी बोलने लगे।

"आज मैं अमेरिका के कर्मरहस्य नामक वाणी का ही अनुवाद करनेवाला हूँ। आज का विषय अत्यन्त महत्त्व का है। गीता का वह मुख्य विषय है। वह व्यवहार का ध्येय है, और वेदान्त का हृदय है। कर्म कैसे करना इस बात का मैं अपना अनुभव तुझे बतलानेवाला हूँ। जहाँ जहाँ गीता में कर्म अवश्य करना चाहिए ऐसा कहा है, वहाँ वहाँ कर्म कैसे करना यह भी बतलाया है। योग की परिभाषा करते समय भी कहा है:—

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय ॥२,४८॥

यह श्रीभगवान् ने कई जगह बतलाया है कि कर्म बिना आसक्ति के करना चाहिए।

कर्मण्यवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
माकर्मफलहेतुर्भूः ....॥ २,४७ ॥

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥ ३,१९ ॥

ऐसे बहुत से उदाहरण दे सकते हैं। सब जगह एक यही आशय है कि आसक्ति छोड़ कर कर्म करना चाहिए। अपने अनुभवों का समालोचन करने से ज्ञात हो जावेगा कि आसक्ति ही सब दु:खों का कारण है। जिस समय लोग कोई कार्य हाथ में लेते हैं उस समय उसकी सिद्धि के लिए बड़े उत्साह-पूर्वक सब चतुरता ख़र्च करते हैं, पर इतने पर भी कई बार कार्य सफल नहीं होता, परन्तु इस कारण उसे त्याग देने को अपना मन तैयार होता है क्या? अपना विवेक अपने को बतला रहा है कि उस कार्य में लगे रहने से अपना नाश होगा, तो भी उसे छोड़ते ही नहीं। उसका मोह दूर होता नहीं।

हमने जग में जन्म क्यों लिया? सुख के लिए ही ना? फिर क्या आसक्ति से सुख मिलेगा? मक्खी मधु खाने को जाती है, पर पैर बर्तन में फँस जाते हैं! फिर न आगे जाते बनता है, न पीछे! ऐसी ही लोगों की भी दशा होती है। सुख-रूपी मधु चखने को आये, पर संसाररूपी बर्तन में फँस गये! चैन भोगने के लिए जग में अवतार लेते हैं, पर हमारे जीवन पर दूसरे ही चैन उड़ाते हैं! क्यों? आसक्ति के कारण! सिंहासन पर बैठकर सत्तापूर्वक राज्य करने की इच्छा, पर यहाँ सृष्टि के बंदे गुलाम बने पड़े हैं! स्वतन्त्र कर्तव्य-कार्य करने के लिए हमारा जन्म, पर जग के हाथ के नीचे सेवा-टहल करने में ही वह बीत जाता है। प्रेम के मनोहर नाम से हज़ारों चित्तों पर अधिकार चलाने का हमारा प्रयत्न, पर हज़ारों चित्त ही हम पर अधिकार

चला रहे हैं। क्या ही आश्चर्य की बात! वह प्रेम आसक्ति ही है! सुखोपभोग का प्रयत्न करते हैं, सो वे रोगरूप से हमारे अवयव छिन्न-भिन्न कर डालते हैं! सृष्टि-वैभव लूटने का हम प्रयत्न करते हैं, वही हमें वैभवहीन करके कहीं तो भी फेंक देती है! इस सब दुर्दशा का कारण है एक-मात्र आसक्ति!

"आसक्ति न रहे तो ऐसी दुर्दशा न होगी और सब काल सुख भोगेंगे। परन्तु आसक्ति के जाल में पैर न फँसे तब ना! इसी लिए गीता का कहना है कि योग्य कर्म सदा करते रहो, पर उसकी आसक्ति छोड़ दो! चाहे जब उससे दूर होने की तुम्हारी तैयारी हो! कोई वस्तु तुम्हारी कितनी ही प्यारी क्यों न हो, उसके बिना तुम्हें कुछ भी सुख मिलने की आशा न हो, पर चाहे जब उसका त्याग करने को तुम तैयार रहो। इसके लिए मनुष्य का मन बलवान् होना चाहिए! तुम्हारी कसौटी देखने के लिए ईश्वर ने जो मोह उत्पन्न किया है, उससे भी बलवत्तर सामर्थ्य अपने मन में रहना चाहिए। सुदृढ़ता ही जीवन है और दुर्बलता ही मृत्यु है। मनोबल ही सुखसर्वस्व है, यही चिरंतन जीवन है, यही अमरत्व है! और दुर्बलता ही रोग, दुःख और मृत्यु है।"

स्वामी यहाँ पर रुक गये। अब ढूँढ़ने लगा कि हम रोगी, दुःखी मर्त्य क्यों हैं! आसक्ति के कारण कितनी कष्ट-परम्परा हमारे ऊपर आ गिरी है? धन, सुत, दारा, आप्त, इष्ट, मालक, नौकर! कितने बाह्य विषयों का भार हमने सुख के लिए उठा रक्खा

है ! पर आख़िर दुःख ही दुःख ! फिर इन सबका मोह दूर करने की हममें शक्ति भी है क्या ? वह भी नहीं। अब हमारी आसक्ति के कई चमत्कारिक स्वरूप मेरे ख़याल में आने लगे। अच्छी तरह से मालूम है कि एक घंटे में मरना है, वाचा बंद होती आ रही है, नाड़ी ठंडी पड़ने लगी है, शरीर में रक्त बहना बंद होगया है, और सब इंद्रियों की शक्ति नष्ट होगई है, तब भी संसार का मोह कैसे दूर नहीं होता, इसका एक उदाहरण इस समय याद आया। कहते हैं, मृत्यु के साथ झगड़ा करते करते थका हुआ और मृत्यु के पूर्ण अधीन होगया हुआ एक कृपण मनुष्य बछड़े को झाड़ू खाते देख उसे उठा लेने के लिए बतलाने का प्रयत्न करने लगा। मुझे इस दृष्टांत का ख़याल आते ही स्वामीजी हँसने लगे। फिर उन्होंने भी ऐसी ही एक बात बतलाई। उसमें भी एक कृपण की बात थी, जिसने दिया की बत्ती बड़ी होगई देख मरते समय भी उसे कम करने को कहा था। यह दृष्टान्त स्वामीजी को उनके गुरुजी के पास से मालूम हुआ था। इसके बाद हम ख़ूब हँसे। फिर स्वामीजी बोलने लगे, "श्रीभगवान् ने पार्थ को बतलाया है—

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथाऽसक्तश्चिकीर्षुर्लोकसङ्ग्रहम् ॥३,२५॥

जिस प्रकार मूर्ख कोई काम आसक्तिपूर्वक करता है और उसे जैसा चिपक रहता है, उसी प्रकार विद्वान् को भी कर्म

करना चाहिए पर उससे दूर होने की शक्ति उसमें रहना अत्यावश्यक है। ऐसी शक्ति जिसमें होगी, वही सुख पावेगा।

"किसी वस्तु पर प्रेम रहना भी एक सामर्थ्य है। बिना सामर्थ्य के नहीं हो सकता कि किसी वस्तु पर प्रेम लग जावे और उसके सिवा और किसी का—यहाँ तक कि निज शरीर का भी—ख़याल न रहे! सर्वस्व नाश का समय नज़दीक आने पर भी अपने प्रिय वस्तु का त्याग न करे तो समझना चाहिए उसमें बड़ा सामर्थ्य है। इस एकाग्रता के लिए आसक्ति का सामर्थ्य रहना चाहिए, और उससे दुःख न हो इसलिए अनासक्ति की भी शक्ति रहनी चाहिए। इन दोनों शक्तियों के रहने से मनुष्य पूर्णत्व को प्राप्त होता है। एक ही प्रेम के विषय के लिए आत्मिक शक्ति का अपना पूर्ण भांडार ख़ाली कर देने पर भी पूर्णत्व पाया हुआ मनुष्य उसके लिए उदासीन रहता है। इसके लिए उदाहरण विदेही राजा जनक है! एक पैर को अनेक सुन्दरियाँ सुगंधित तेल मल रही हैं, तो दूसरा पैर जलती आग में रखने की भी उनकी तैयारी रहती थी। ये दो परस्परविरुद्ध शक्तियाँ कैसे प्राप्त हो सकती हैं, इसका भी रहस्य जानना चाहिए।

"अपनी इच्छा रहती है कि कोई कर्म किया तो उसका प्रतिफल मिले। क्या यह भिखमंगापन नहीं है? क्या भिख-मंगे को कभी सुख मिलता है? वह किसी प्रकार अपना पोषण करता है? यदि उसे बड़ी भारी प्राप्ति कहीं हुई हो तो वह तुच्छतादर्शक तिरस्कार और दया के कारण ही मिलती है!

दाता भिखमंगे को एक कौड़ी का भी नहीं समझता ! क्या भिखमंगे को इससे सुख हो सकता है ? भिखमंगा होना ठीक नहीं । फल की इच्छा नहीं रखना चाहिए । इसी लिए श्रीभगवान् बतलाते हैं—

अधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।२,४७।।

फल पर तेरा अधिकार कभी नहीं है । परन्तु हम हैं व्यापारी ! जितना दिया उतना ही हमें वापस मिलना ही चाहिए ! हम रसायनिक तराज़ू लेकर बैठे हैं । धर्म में भी हमारा व्यापार चला ही रहता है ! तेज़ी से नफ़ा हो तो हम लेने को तैयार हैं, परन्तु धीरे धीरे होनेवाले नुकसान को हम सहने को तैयार नहीं ! ऐसे तो हम व्यापारी हैं ! क्या ही आश्चर्य की बात है !"

मैं विचार करने लगा, "सचमुच आश्चर्य की बात है ! 'हे भगवान्, मुझे पुत्र होवेगा तो कथा कहलाऊँगा !' 'मुझे नौकरी लग जायगी तो ब्राह्मण-भोजन करवाऊँगा !' ये सब व्यापार की बातें नहीं तो क्या हैं ? प्रेम में भी हमारा व्यापार चलता है ! निर्व्याज प्रेम का तो नाम भी नहीं दीखता ! किसी को भी जँच जावेगा कि कोई हमारे लिए भी कुछ करेगा, इसी आशा से हम उस पर प्रेम करते हैं । धर्म में भी वही बात ! गुप्तदान और चुपचाप उपकार का तो नाम भी नहीं दीखता ! हमारी कितनी प्रबल इच्छा रहती है कि हमारे दान-धर्म

की अखबारों में घोषणा हो, यदि लोगों ने हमें धार्मिक न कहा तो सब व्यर्थ ! कितनी बढ़ी है हमारी व्यापारी दृष्टि !"

स्वामी हँसकर कहने लगे, "अरे ! यह व्यापार यानी दर्पण में प्रतिबिंब ही देखना है। हम हँसते हैं, वह भी हँसता है ! हम रोते हैं, वह भी रोता है ! यही क्रय-विक्रय है ! यही लेना-देना है ? ऐसा नगदानगद व्यापार करते समय भी लोग फँस जाते हैं ! देने के कारण नहीं फँसते, वे फल की इच्छा से फँसते हैं ! प्रेम करने से दुःख नहीं होता, उस प्रेम का बदला चाहने से होता है ! अपेक्षा यानी गरज़ उत्पन्न हुई कि दुःख वहाँ खड़ा ही है ! गरज़ ही दुःख की माता है ! आशापूर्ति सफलता-विफलता पर अवलंबित है, इस कारण आशा दुःख की जननी है। यदि सुख चाहिए है, तो प्रतिफल की आशा रखना ठीक नहीं। 'जो कर्मफल की इच्छा नहीं रखता, वही सच्चा योगी है और उसी को संन्यासी कहना चाहिए—

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः॥६,१॥

जिसने अग्निहोत्र त्याग दिया अथवा जिसने कर्म करना ही छोड़ दिया, वह योगी नहीं है, न वह संन्यासी ही है। योगी और अयोगवान् के लक्षण श्रीभगवान् ने बतलाये हैं—

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये॥५,११॥

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते॥ ५, १२॥

फल की आशा छोड़ कर केवल आत्मशुद्धि के हेतु काया, बुद्धि और इंद्रिय-द्वारा योगी कर्म करते हैं; और कर्मफल की आशा न रहने के कारण शाश्वत शांति पाते हैं। आशायुक्त लोग फल में बद्ध रहते हैं। फलापेक्षारहित कर्म करने से कर्त्ता इस प्रकार सब दोषों से दूर रहता है!

"तेरा काम कर्म करने का है, वह तू कर। तेरा काम देने का है, वापस लेने का नहीं। दिया हुआ अवश्य वापस मिलेगा, हज़ारों गुना मिलेगा परन्तु उस पर तू आँख मत रख। सूत तो बाज़ार में ही है, फिर यहाँ लठालठी करने का कौन काम? तेरा जन्म देने के लिए है, लेने के लिए नहीं, इस बात का ख़याल रख। प्रकृति का यह नियम है कि प्रत्येक प्राप्त वस्तु किसी दूसरे को दे ही देनी पड़ती है। जन्मते ही प्रकृति ने हमारे पास श्वास की गठरी दे रखी है। थोड़ा थोड़ा उसमें से देते ही जाना चाहिए और देते भी हैं। मुट्ठी बाँध रखने से काम न चलेगा। सब सिरहाने रख कर उसका रक्षण करना हमारे समान दुर्बलों से न हो सकेगा। प्रकृति हमें देने को लाचार करेगी। गले पर उसने पैर रखा कि मुट्ठी ढीली हुई, और छाती से लिपटाया हुआ सब कुछ गिर जावेगा। फिर, विचार कर कि इतनी दुर्दशा करवा लेना ठीक है अथवा ख़ुशी से देना ठीक

है ? 'नहीं' कह कर अधिक थप्पड़ खाने में क्या लाभ ? प्राण भी तुम्हें दे देना पड़ेगा ! ऐसा कोई प्राणी नहीं जिसे अपना सर्वस्व नहीं त्यागना पड़ता। सब भूत-मात्र प्रकृति को भोजन पहुँचानेवाले यंत्र ही हैं। जो सूर्य समुद्र का पानी सोकता है, वही पानी के रूप में लौटा देता है। जो कुछ पास आया सो देते जाओ, दिया हुआ लेने की इच्छा मत करो। इससे तुम्हारी क़ीमत बढ़ेगी और देने के लिए तुम्हारे पास अधिकाधिक ही आता जावेगा।

"इस मार्ग में अनेक विघ्न हैं ! अनेक बार विफलता प्राप्त होने से काम, क्रोध जाग जाते हैं। उनका संयमन करने के लिए, उन्हें उस समय शांत रखने के लिए, ईश्वरी शक्ति की आवश्यकता है।"

प्रत्येक को मालूम होगा कि अनासक्त होना कितना कठिन है। कई बार मन में लहर आती है कि अनासक्त रहना चाहिए। जब हम विरागी दृष्टि से अपने आयुष्य-क्रम की समालोचना करते हैं तब देख पड़ता है कि जिन विषयों में हम आसक्त हैं, वे विषय और हमारे प्रिय मनुष्य हमें अपना गुलाम बनाये हुए हैं, पुतली के समान वे हमें नचा रहे हैं। हमारे ईश्वरत्व पर—मनुष्यत्व पर—प्रतिदिन नया नया परदा गिरता जाता है। 'प्रेम' बड़ा आडंबरपूर्ण नाम है, परन्तु जब कभी ख़याल आता है कि वह हमें गुलाम बनाता है, उस समय कह उठते हैं कि 'भैया ! नहीं चाहिए यह प्रेम, न यह संसार, न यह

आसक्ति !' परन्तु इसका उपयोग ही क्या ? एक क्षण के बाद फिर भी मोहजाल में ! फिर फड़फड़ाये तो और भी फँसते हैं ! सारांश, आसक्ति से दूर होना बड़ा कठिन कार्य है। अब मैं अपने अनुभव का ख़याल करने लगा। तब स्वामी ने फिर से बोलना शुरू किया:—

"अनासक्ति का प्रयत्न करते समय एक विचित्र बात दिखलाई पड़ती है। कभी कभी मन में एक प्रकार का अशौच घुस जाता है ! जग में सद्गुण नाम को नहीं ! जग लुच्चे-लफंगों का बाज़ार है ऐसा ख़याल बढ़ता जाता है। तब सर्व-संग परित्याग करने की अथवा जग में ही उदासीनतापूर्वक रहने की इच्छा होने लगती है। ऐसे समय में वह अपना मनुष्यत्व भी भूल जाता है। इनमें से कुछ ढोंगी भी होते हैं ! परन्तु बहुतेरे मनुष्यत्व का ज्ञान खो बैठते हैं। उन्हें किसी बुरे काम के कारण ग़ुस्सा नहीं आता, न अच्छे से प्रेम ही उत्पन्न होता है। परन्तु यह न समझना चाहिए कि वे ग़ुस्सा नहीं होते, इसलिए उन्हें पूर्ण शांति मिलती होगी। सच बात यह है कि ग़ुस्सा होने की उनकी शक्ति ही नष्ट हो जाती है। सिर्फ़ आकार में वे मनुष्य हैं ! उनका मनुष्यत्व निद्रित ही नहीं, बरन मृत है। इससे ग़ुस्सा हज़ार गुना अच्छा है ! आसक्ति-पूर्वक किसी चीज़ पर प्रेम करना भी अच्छा है ! परन्तु दीवाल के समान अनासक्त प्रतिकार-शून्य मिट्टी का ढेला होना ठीक नहीं ! दीवाल को दुःख होता नहीं, पर उसे

जग का कौन सा सुख भी मालूम है; आँख के सामने बुरे कर्म होते हुए देखते भी कुछ न लगे, केवल गाली देने के लायक भी मनुष्यत्व न रहे, तो पत्थर में और उसमें क्या भेद ? दीवाल बन कर खड़े रहना, पत्थर का पुतला बन बैठना ही क्या हमारे ध्येय हो सकते हैं ? क्या मनुष्य-जन्म इसी लिए उत्तम कहा गया है ? नहीं ! ऐसा कभी नहीं हो सकता। मनुष्य ईश्वर बन सकता है, ईश्वरत्व वह संपादन कर सकता है, यही उसका ध्येय होना चाहिए। ईश्वरत्व का दर्शक लक्षण श्रीभगवान् ने बतलाया है:—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय............

साधु का रक्षण, दुष्टों का नाश, और धर्म का संस्थापन ही ईश्वरी कार्य हैं। इन कार्यों को करने की शक्ति आना ही ईश्वरत्व है। सद्गुणों से प्रेम होकर वहाँ आत्मीय भाव उत्पन्न होना और दुर्गुणों का तिरस्कार उत्पन्न होकर उनके नाश करने की शक्ति पाना ही ईश्वरत्व है ! यहाँ भी अनासक्ति और फलनि:स्पृहता के कारण कर्मदोष से बच सकते हैं।

"यह बात सच है कि यह मार्ग बहुत विषम और कंटक-संकट-पूर्ण है ! अनेक झाड़ियों में से, पाशों में से, कंकर-काँटों में से, पार करना है। अनेक क्रूर श्वापदों के झुंडों में से मार्ग निकालना है ! अनेक विषहरे सर्पों के फूत्कार सहन

करने पड़ेंगे ! परन्तु जीवन-वन से पार होते समय चाहे जितने दुःख आवें, चाहे कितना भी खून खोना पड़े, चाहे कितने भी आघात क्यों न आ गिरें, सब शांतता से सहकर अपने मार्ग से चलने के लिए अतीव मनोधैर्य, प्रचंड मनोबल, और महान् शरीरबल चाहिए।

"दुर्बलता ही रोग, मृत्यु, विफलता या और जो कहो सो सब कुछ है। दुर्बलता के बिना रोग नहीं हो सकता। सूक्ष्मदृष्टि से देखा जाय तो हम ही गड्ढे पीटपाट कर, टीले सीले काट कर, काँटे साँटे झाड़ कर अपना रास्ता बनाते हैं। फिर उस मार्ग से दुःख सीधा अपने शरीर में प्रवेश करता है। उस दुःख को रास्ता दिखलानेवाला कौन है ? हमही ! हमेशा यही देख पड़ेगा कि अपनी तैयारी के सिवा कभी हम पर दुःख आक्रमण नहीं कर सकता। तैयारी के सिवा शरीर में रोगबीज कभी प्रवेश नहीं कर सकते, और यदि इसके सिवा किया ही तो वे वहाँ ज़िन्दे न रहेंगे। आधी तैयारी हम स्वयं करते हैं, और आधी बाहर से होती है। इस प्रकार पूर्ण तैयारी होने पर दुःख प्रवेश करता है। कोई भी स्थिति प्राप्त हो, हम उसके पात्र ही हैं ! दुःख हुआ तो हम उसका बाह्य कारण ढूँढ़ने का प्रयत्न करते हैं, विफलता का दोष किसके मत्थे मढ़ते बनेगा इसी बात को प्रथम सोचते हैं। परन्तु निजी भूल का स्वप्न में भी विचार नहीं करते ! क्यों यही बात है या नहीं ?"

तत्काल मेरे मन में अनेक दृष्टान्त सूझ पड़े। परीक्षकों पर सख़्ती का आरोप करनेवाले नापास विद्यार्थी, न्यायाधीश को पक्षपाती कहनेवाले हारे हुए वादी-प्रतिवादी, शत्रु को कपटी कह कर चिल्लानेवाले योद्धे! कहाँ तक कहें! हज़ारों उदाहरण मिलेंगे! जब तक कोई चाबुक से यह ख़याल न करा दे कि हम भी इसी जग में से एक हैं, तब तक हम यही कहते हैं कि हमारे सिवा सब जग दुष्ट है! 'कितना दुष्ट यह जग! इनके समान गदहे कोई न होंगे!' क्या ऐसे वाक्यों से हमारी दुर्बलता ही नहीं दीखती? हम यदि इस जग में रहते हैं तो कैसे कह सकते हैं कि हम भी उसी प्रकार दुष्ट नहीं हैं? "जग में यदि सब ही राक्षस और दैत्य हैं तो हम भी उनमें से एक ज़रूर होंगे।" इतना कह कर स्वामीजी हँसने लगे। "हम अच्छे, जगत् बुरा, ऐसा कहना केवल धोखेबाज़ी करना है! यह धोखेबाज़ी का प्रयत्न करने-वाला पुरुष पागल है या जग? सच्चे शूर का काम नहीं कि निज को दुःख होने से जग की ओर अंगुलि करे! अपनी भूल हम को ढूँढ़ निकालना चाहिए। यदि दुःख या दोष दूसरे के सिर न मढ़ते अपने पर ही मढ़ें तो सत्यता का श्रेय तो भी प्राप्त होगा! यदि मन ही दृढ़ नहीं तो जग का उसमें क्या दोष? कई लोग अपने पौरुष की स्तुति करते रहते हैं। तब वे यही दिखलाने का प्रयत्न करते हैं कि हम निर्दोष, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिशाली, केवल परमेश्वर ही हैं! परमेश्वर की शांतता कभी किसी कारण से

भी नष्ट हुई है ? फिर यह शेखीबाज़ क्यों कुरकुराते रहता है कि उसने मुझे दुःख दिया, उसने मुझसे उपद्रव किया । यदि तुम्हारा ईश्वरत्व सच्चा है तो नरक के इस किनारे से उस किनारे तक जाओ, तुम्हें कभी कोई दुःख न होगा । जब तक तुम्हारी कल्पना बनी है कि बाह्य जग से कष्ट होता है तब तक ईश्वरत्व-सम्बन्धी तुम्हारी बकबक निरर्थक है ! दुर्बलता और मूर्खता को उस भावना से असत्यता की संगति और मिलती है । और फिर, मन की अशक्तता सुधारने की ओर हमारी दृष्टि नहीं जाती, उलटी वह बढ़ती ही जाती है । इस जग में निज की ख़बरदारी निज को ही लेनी चाहिए । हमें सुख-दुःख और कोई नहीं देता, हम ही अपने को देते हैं । पापपुण्य के समान अपने सुखदुःख के कर्त्ताधर्ता हमही हैं !

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतंविभुः ॥५,१५॥

परमेश्वर पापपुण्य किसी को नहीं देता; 'स्वभावस्तु प्रवर्तते' यह अपना ही भाव (गुण) है ! इसी लिए श्रीभगवान् कहते हैं—

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥६,५॥

अपना उद्धार हमें ही करना चाहिए । अपने उद्धारकर्ता स्वयं हमही हैं ! इसी लिए श्रीभगवान् बतलाते हैं, निज की अव-नति हमको नहीं करना चाहिए । हमही अपनी उन्नति-अवनति

के कारण, अपने बंधु और अपने शत्रु हैं। सारांश, अपने मन पर हमको ही अधिकार चलाना चाहिए, उसे बलवान् बनाना चाहिए यही अपने दुःख दूर करने का उपाय है। अच्छा, मुख्य विषय से हम बहुत दूर चले गये। अब वहाँ पर वापस आना चाहिए।

"यह स्पष्ट होगया कि फलापेक्षा और आसक्ति त्याग कर कर्म करना चाहिए। फलापेक्षा त्यागते ही आसक्ति ढीली हो जाती है, परन्तु साधनों की ओर ख़याल रखना ही चाहिए। इसलिए आसक्त पुरुष के समान (परन्तु चाहे जब छोड़ देने की—अनासक्त—की तैयारी रख कर) कर्म करना चाहिए। यदि साधन निर्दोष हैं तो बिना इच्छा के भी सिद्धि प्राप्त होती है। आसक्ति त्यागने के लिए फल की इच्छा छोड़नी चाहिए, और फल की इच्छा त्यागने के लिए साधन तैयार रखना चाहिए। अच्छा अभ्यास करने पर ऐसा ध्यान नहीं बना रहता कि परीक्षा पास होऊँगा या नहीं। यह कार्य अत्यंत कठिन है। गुरु महाराज ने एक अनासक्ति को नौकरानी की और फलनिःस्पृहता को वैद्य की उपमा दी थी। वह दृष्टान्त तुम्हे बतलाता हूँ:—

"धनी लोगों के घर की नौकरानी, उनके लड़कों का अपने लड़के के समान 'मेरा हीरा, मेरा लाल, कह कर प्यार करती है, उन्हें अपने प्राण के समान समझती है। परन्तु उसका हमेशा यह ख़याल बना ही रहता है कि वह लड़का मेरा नहीं है। इसी लिए यदि किसी कारण से वह घर छोड़ कर जाने का उसे मौक़ा आया तो उसके मन को दुःख नहीं होता, यही अनासक्ति है!

इसी प्रकार गृहस्थी को रहना चाहिए। हमेशा यह भावना बनी रहे कि यह सब दुनिया अपनी नहीं है, ईश्वर ही अपना है और वह इनसे निराला है।

"कई सालों से धंधा करनेवाला वैद्य जब औषध देता है तो वह इसी उद्देश से देता है कि रोगी अच्छा हो जावे ! परन्तु उसका अच्छा होना या उसका मर जाना उसके कोई सुख दुःख का कारण नहीं होता। अच्छा प्रयत्न करने पर अच्छा या बुरा चाहे जैसा फल लेने को तैयार रहना चाहिए। अमुक ही फल मिले ऐसी अपेक्षा ही दुःख का कारण है। श्रीभगवान् कहते हैं :—

> सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
> ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥२, ३८॥
> यदृच्छालाभसन्तुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
> समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वाऽपि न निबध्यते ॥४,२२॥

कर्म तो करना ही चाहिए परन्तु उसका बंधन नहीं होने देना चाहिए। इसलिए सुख-दुःख, लाभ-अलाभ, जय-अजय, सिद्धि-असिद्धि सब बातें समान जाननी चाहिए। इसके लिए भारी मनोबल चाहिए। कदाचित् कई लोगों को यह अशक्य देख पड़े, परन्तु अभ्यास सब कुछ कर सकता है। मन को सहिष्णु और बलवान् बनाने के लिए छठे अध्याय

में ध्यान-योग बतलाया है, उसका अभ्यास करना चाहिए—

मन दृढ़ हुआ और फलेच्छारहित असक्त बुद्धि से कर्म कर सके तो फिर आनंद ही आनंद और शांति ही शांति !"

ओ३म् शांतिः शांतिः शांतिः

———

दसवाँ परिच्छेद

कौन सा कर्म करना ?

कर्म-रहस्य बतलाने पर स्वामी समाधिस्थ हुए, और उस कर्म-रहस्य पर विचार करते हुए मध्याह्न-स्नान के लिए मैं बाहर निकला। स्नान करने के बाद गायत्री मंत्र का जप करते समय भी मेरा ध्यान उसमें नहीं लगा था। उस समय भी कर्म-रहस्य के विषय में विचार चले थे। 'निर्हेतुक कर्म अपने से कभी होते हैं ? नहीं, कभी नहीं ! कभी कीर्ति की, कभी धन की, कभी ऐहिक सुखोपभोग की, तो कभी स्वर्ग की ऐसी कुछ न कुछ इच्छा कर्म करते समय ध्येय रूप से बनी ही रहती है। फिर क्या यह कर्म-रहस्य बातों में ही बना रहेगा ? क्या आचरण में नहीं आ सकता है ?' ऐसे विचार मेरे मन को पीड़ा दे रहे थे। ऐसे समय एक चमत्कार से मेरी शांति हुई।

मेरी आँखें बंद थीं। उनमें से मुझे थोड़ा प्रकाश दीखता था, फिर उस प्रकाश में मुझे एक आकृति दिखलाई देने लगी। कुछ काल के बाद वह आकृति स्पष्ट दीखने लगी। वह आकृति और किसी की नहीं थी—परमहंस स्वामी श्रीविवेकानंदजी की थी। आँखें खोलने से आकृति शायद न दिखे, इस कारण आँखें खूब बंद कर ली थीं। फोटो में वह तेज:पुंज आकृति

देखने से मुझे कितना आनंद होता था ! फिर इस तरह ध्यान में देखने से क्या ही आनंद होना चाहिए ! मन से ही उनके चरणों पर नमस्कार किया। यहाँ यह योग्य नहीं कि अपनी मन की दशा का अथवा विचारों का वर्णन अलंकारिक रीति से करके पाठकों का केवल रंजन करूँ। केवल सार बात बतलाता हूँ। मेरे प्रणाम करने पर वह मूर्ति हँसती हुई दिखाई दी, और मुझे कुछ सुनाई दिया। ऐसा जान पड़ा कि वह आवाज़ परिचित है। परन्तु यह बात सच है कि वह मानवी नहीं थी। कह नहीं सकता कि वह ध्यानगम्य मूर्ति की थी, या आकाश-वाणी की, या मेरे ही मन के विवेक-शक्ति की ! जो कुछ सुनाई दिया सो लिखता हूँ:—

"केवल कर्तव्य समझ कर कर्म करनेवाले बहुत बिरले होते हैं। कीर्ति, धन, या अन्य किसी स्वार्थ की इच्छा न करते जो केवल कर्त्तव्य के ख़याल से कर्म करते हैं, वेही निःस्वार्थी हैं। कीर्ति की आसक्ति ही सबसे बड़ी बलवती है। कीर्ति-लुब्ध षंढ भी उसके वश होकर बड़े बड़े पराक्रम के कार्य करता है। यानी उसका सच्चा स्वभाव भी बदल जाता है। गृहस्था-श्रमी को कीर्ति के लिए (कीर्ति के हेतु से) कर्म करना चाहिए। परन्तु अपकीर्ति को भी डरते रहना चाहिए। कीर्ति के हेतु से किये हुए कर्म शीघ्र फलीभूत नहीं होते। अंतिम समय खाट से ज़मीन पर उतार देने पर भी कई लोगों को उसकी प्राप्ति होती है। इसी प्रकार निर्हेतुक कर्म

बहुत काल के बाद फल दिखलाते हैं। उस समय वे फल-भार से झुक गये रहते हैं। निर्हेतुक कर्म के समान और कुछ लाभकारी है नहीं। परन्तु उतने काल तक राह देखने का धीरज किसी को कहाँ रहता है? ऐसे कर्मों का शरीर-प्रकृति पर उत्तम परिणाम होता है। प्रेम, सत्य और निःस्वार्थ बुद्धि ही अपने ध्येय हैं! इन तीन गुणों में अपनी चैतन्य-शक्ति जागृत करने की शक्ति है। यह बात सच है कि कोई भी काम बिना हेतु के एक मिनट भर भी करना कठिन है। परन्तु ऐसे कर्मों की शक्ति का अनुभव लोगों को कभी कभी हो ही जाता है। स्वार्थसाधक लोग एक से एक बलवान् दिखाई देते हैं। परन्तु कर्म करते समय स्वार्थ-बुद्धि का उदय न होने पावे इसलिए उसे रोकने के लिए जितनी शक्ति की आवश्यकता रहती है, वह प्रारम्भ में हज़ारों गुनी होना आवश्यक है। उतार पर से चार घोड़ों की गाड़ी पूरे वेग से दौड़ाने में कोई बड़ी बात नहीं, परन्तु उसे वहाँ पर रोकने में कितनी शक्ति की आवश्यकता होती है! तोप का गोला फूटने पर जितनी विनाशक शक्ति उत्पन्न होती है, उससे बहुत अधिक उसे बीच में ही रोकने के लिए आवश्यक होगी। उसी प्रकार बीच में रोका हुआ मन अपनी दाहक शक्ति प्रकट करके पीड़ा देता है। प्रेम हमें निर्हेतुक कर्म का उपदेश करता है। अपने प्रिय पात्रों को आनंद मालूम हो इसलिए हम तुम अनेक काम करते हैं। इसी प्रेम की व्याप्ति बढ़ाते चलें और ढोंगीपन

को छोड़ सत्य के पीछे हो लें तो हमें निःस्वार्थीपन की आदत हो जावेगी। बहुत अभ्यास से आनेवाली बात तत्काल नहीं आती, इसलिए दुःख करना ठीक नहीं। बहुत लोग हमें पूज्य समझें ऐसी इच्छा रखना अत्यंत बुरी है । जब मन की ऐसी कल्पना हो जाती है कि हम जग के नेता नहीं, किन्तु दास हैं, तब जगत् हमें नमन करता है।"

इस एकाग्र श्रवण में मुझे कुछ ख़याल न रहा, और मैंने आँखें खोल दीं और उस मूर्ति का दर्शन और उस उपदेश का श्रवण दोनों एकदम बंद होगये। इस कारण मेरे मन को बहुत बुरा लगा । क्योंकि बहुत अमूल्य उपदेश सुनने को मिला होता। काल बहुत बीत गया था, इस कारण झटपट नित्य कर्म निपटा कर फलाहार की तैयारी में लगा।

उस समय मेरे मन में विचार चले ही थे। मुझे स्वानुभव से जँच गया कि निर्हेतुक कर्म में एक प्रकार की बड़ी भारी शक्ति होती है। लोगों से यह सुनने के लिए (यानी कीर्ति के लोभ से) कि 'अमुक सज्जन अच्छा पढ़ाता है', मैं लड़कों को निःशुल्क ही प्राथमिक शिक्षा देता था। फिर उस कीर्ति की अतिशयता के कारण उसका तिरस्कार आने लगा। परन्तु जिन लड़कों को पढ़ाकर उनका कुछ उपकार किया उनकी अपने विषय की भावना से, और मुझे देख उनके निर्मल मुख पर जो हास्य प्रकट

होता था उसके मधुर विकार से मुझे बहुत सुख मिलता था। यह संभव नहीं कि इस सुख से कभी मेरा वियोग होगा परन्तु जिस प्रकार मेरे विद्यार्थियों के पिता का द्रव्य और उनकी की हुई मेरी स्तुति प्रिय रहने पर भी अप्रिय मालूम होने लगी, उसी प्रकार इस बात में क्यों न होगा? हो अथवा न हो, पर निर्हेतुक कर्म के नीचे की ही यह सीढ़ी है। एक काम में तो उस ऊँची सीढ़ी के पास पास पहुँच गया हूँ, इस ख़याल से मुझे आनंद होने लगा। इस प्रकार सोचते सोचते मैंने फलाहार किया और फिर गीताआश्रम में गया। वहाँ जाकर स्वामीजी को नमस्कार किया और अपने स्थान पर बैठ गया। स्वामीजी बोलने लगे:—

"बच्चा! अब मेरे इस मूर्तावतार का कार्य पूर्ण होते आया। तेरी इतनी तैयारी होगई है कि अमूर्त दशा में भी तू मुझसे बातचीत कर ले। इसलिए 'कौन सा कर्म करना चाहिए' इस विषय पर गीतोक्त विचार संक्षेप-रूप से तुझे बतलाता हूँ और तेरा कर्तव्य भी बता देता हूँ, फिर मैं अप। मूलस्वरूप में लीन हो जाऊँगा। तुझे यह भी मालूम होगया ने कि मैं कौन हूँ और मेरी सहायता कैसे प्राप्त करनी चाहिएहै एकाग्र मन से सुन। श्रीभगवान् ने योग की परिभाषा "योगः कर्मसु कौशलम्" वाक्य द्वारा बतलाई है। उस पर मैंने बतला दिया है कि 'कर्मसु' यानी स्वधर्माख्येषु कर्मसु।' इससे यह बतलाने का उनका उद्देश है कि हमारा

कर्तव्य—हमको कौन सा कर्म करना चाहिए यह—स्वधर्म में भरा है—

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि ।२।३१॥
श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥३,३५।
स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ॥१८,४५॥
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥१८,४६।

श्रीभगवान् ने अर्जुन को बतलाया है कि 'स्वधर्म की दृष्टि से भी विचार किया तो युद्ध से डरने का काम नहीं ।" दुर्योधनादि का नाश हुआ तब भी धर्मच्युति का दोष तुझे नहीं लग सकता । श्रीभगवान् का भावार्थ है कि 'कौरव मर गये, तेरा भी अन्त होगया, अथवा प्रलय से दुनिया डूब गई तो भी तुझे उस भावी स्थिति के डर से धर्मच्युत होना ठीक नहीं । दूसरे श्लोक में बतलाया है "दूसरे का धर्म कितना भी अच्छा दीखे और अपना कितना भी कठिन हो, तो भी अपना छोड़ दूसरे का कभी स्वीकार नहीं करना चाहिए । मिष्टान्न ही हैं, इसलिए शूद्र के घर खाना ठीक नहीं । क्षुधा के कारण मरनेवाला द्विज भी ऐसा करेगा क्या ? अहो ! लोगों के महल देख कर अपनी झोपड़ी तोड़ डाली तो उसमें नुक़सान किसका ? अपनी स्त्री कितनी भी कुरूप रही, तो भी उसी से रममाण होना ठीक

है। दूसरे की सुंदर स्त्री पर नज़र डालने से केवल नरक का दरवाज़ा हमारे लिए खुलेगा ! अपने दुष्ट धर्म के लिए जीव को भी धोखे में डालना ठीक होगा, पर दूसरे का उत्तम धर्म भी भयप्रद समझना चाहिए। स्वधर्म ही सुख का साधन है।"

परन्तु मनःप्रवृत्ति कितनी बुरी होती है:—

निजाङ्गना यद्यपि रूपराशिस्तथापि लोकः परदारसक्तः।
स्वदेशजातस्य नरस्य मन्ये गुणाधिकस्यापि भवेदवज्ञा॥

इस सुभाषित का लिखनेवाला बड़ा व्यवहारज्ञ रहा होगा। हमारी आँखें ऐसी ही पापी हैं। अपनी स्त्री कितनी भी सुस्वरूप हुई तो भी दूसरे की बिलकुल कुरूप स्त्री पर दृष्टि जाती ही है। दूसरे पंक्ति का कथन बड़े बड़े विद्वानों के विषय में भी चरितार्थ हुआ है। तरुण डिग्रीहोल्डरों को यदि हमारे देश के विद्वान् बतलाने लगे "भाइयो, सूर्य को नमस्कार किया करो, वह हितकारक है" तो वे कहेंगे "मालूम है तुम्हारा ज्ञान ! यही है वह व्यर्थ बकबक करनेवाला मूर्खप्रसाद ! न तो शिक्षा पाई है, न कोई डिग्री हासिल की है, न कोई धंधा करता है, न किसी उद्योग में लगा है ! और हमें उपदेश देने आया है !' इस प्रकार उसके उपदेश को दूर फेंक देनेवाले ही मिलेंगे। यदि कोई अमेरिकन डाक्टर बतलावे (s-torizontal exercise is the best) तो लगे सब ज़मीन पर चित पड़ने !

परकीय बातें शीघ्र ग्रहण होती हैं ! इसी कारण अर्जुन कहते हैं "चञ्चलं हि मनः कृष्ण।"

"उसके बाद के दो श्लोकों में श्रीभगवान् ने वर्णधर्म बतलाया है। उसमें कहा है, 'अपने धर्म के अनुसार आचरण करनेवाले को सिद्धि प्राप्त होती है।' उसका कारण भी वहीं बतलाया है। स्वकर्माचरण यानी सर्वव्यापी और उत्पत्ति-कर्ता परमेश्वर की पूजा ही है। श्रीभगवान् को यह पूजा प्रिय है और जो वह करता है उसे सिद्धि (मोक्ष प्राप्त करनेवाली ज्ञान-सिद्धि) मिलती है। सारांश में श्रीभगवान् का उद्देश है कि—

स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥१८,४७॥
सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत् ।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥१८,४८॥

स्वधर्माचरण करने से दोष नहीं प्राप्त होता। अपना सहज—स्वभावनियत—कर्म (स्वधर्म) दोष-पूर्ण रहे तो भी नहीं छोड़ना चाहिए। क्योंकि प्रत्येक कार्य दोषयुक्त ही रहता है। कहीं ऐसा भी अग्नि दिखाई पड़ा है कि जिससे धुआँ न निकलता हो ?

"कौन-सा कर्म करना चाहिए इस विषय पर मत देना कठिन है। श्रीभगवान् कहते हैं:—

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः ॥४,१६॥

कर्म कौन और अकर्म कौन इसके विषय में पंडित भी मूढ़ हो जाते हैं। इसलिए वे बतलाते हैं:—

तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्।

'इसलिए तुझे ऐसा कर्म बतलाता हूँ कि जिससे दुःख से तेरी मुक्ति हो।' सोने की जाँच करते करते सराफ का जीवन बीत जाने पर भी वह कभी कभी धोखा खाता है और खोटे सोने-चाँदी के सिक्के ले लेता है। कर्म के विषय में विद्वानों की भी वही स्थिति है। इसी लिए ईश्वर पर भरोसा रखना ठीक है। वही पूर्ण ज्ञानी है। उसके वचन पर विश्वास रख उस प्रकार चलें तो कल्याण ही होगा।

"स्वधर्म यदि सदोष हो तब भी उसका त्याग करना ठीक नहीं। स्वधर्म अपनी माता है। माता जिस प्रकार पुत्र के केवल कल्याण की इच्छा करती है, इसी प्रकार धर्म की बात है। अपनी माता कुरूप, क्रोधी, अथवा दुष्ट है इसलिए कोई दूसरी सुरूप, प्रेमपूर्ण और सौम्य ढूँढ़ निकाली तो क्या निज के माता के गुण उसमें आ सकते हैं? उसी प्रकार धर्म की बात है। स्वधर्म त्यागने से कभी सुख न मिलेगा। स्वधर्म-त्याग से अपनी दुर्बलता देख पड़ती है, कीर्ति नष्ट होती है, और नरक का साधन हो जाता है।

"इस विवेचन से श्रीकृष्ण भगवान् कर्त्तव्य का अर्थ 'स्वधर्म' शब्द से ही दिखलाते हैं। अब 'स्वधर्म' शब्द की व्याप्ति का

विचार करना चाहिए। गीता में 'स्वधर्म' के बदले 'सहज कर्म' और 'स्वभावनियत कर्म' ये दो शब्द आये हैं। स्वभावनियत कर्म यानी प्रकृतिप्राप्त कर्म, यानी अपनी परिस्थिति से निश्चित हो सो कर्म है। उसी प्रकार सहज यानी अपने साथ जो उत्पन्न हुआ है वह कर्म। इन अर्थों से यही भाव देख पड़ता है कि अपने जन्म से जो निसर्ग यानी अपना स्वभाव बन जाता है, उसको जो योग्य हो वही अपना धर्म है।

"अपना धर्म क्या है, यह विचार करते समय यह प्रश्न उठता है कि हम कौन हैं। अनेक दृष्टि से अपने अनेक सम्बन्ध उत्पन्न होते हैं। माता पिता के पुत्र, बहिन के भाई, पत्नी के पति, लड़के के पिता इत्यादि इत्यादि हज़ारों रिश्ते होते हैं। एक के पड़ोसी हैं, दूसरे के मित्र हैं, एक ही गाँव के रहने-वाले हैं, समाज के अवयव हैं, देश के निवासी हैं, और इस अनन्त ब्रह्मांड के एक परमाणु हैं! ऐसा हमारा अनेक रूप है। जितने रिश्ते हैं, उतने प्रकार के कर्तव्य उपस्थित होते हैं। फिर ज्ञातिधर्म और कुलधर्म हैं। ये ही अनेक-विध स्वभावनियत कर्म हैं।

"यह बतलाने की आवश्यकता नहीं कि इन सब रिश्तों के रूप में कौन कौन कर्तव्य करना है। परन्तु इतना बतलाना आवश्यक है कि 'मेरा एक कर्तव्य अधिक महत्त्व का है और दूसरा कम महत्त्व का,' ऐसा कहना ठीक नहीं।

माता-पिता की सत्कारपूर्वक सेवा करना जितने महत्त्व का काम है उतना ही महत्त्वपूर्ण कर्तव्य पत्नी का सौम्यता से पालन-पोषण करना है। समाजोन्नति के लिए तत्पर रहना, जात्युन्नति के लिए प्रयत्न करना अथवा देशोन्नति के लिए प्राण देने को भी तैयार रहना समान महत्त्व का काम है। यहाँ एक शङ्का हो सकती है कि माता-पिता को कष्ट पहुँचा कर देश-कार्य में हाथ डालना या नहीं। परन्तु कर्तव्याकर्तव्य का विचार करते समय योग्यतायोग्यता का विचार करना पड़ता है। यदि अपने दो कर्त्तव्यों में विरोध उत्पन्न हो जावे तो जो अधिक महत्त्व का हो, उसे करना ठीक है। फिर इससे कम योग्यता का कर्तव्य यदि नष्ट हो जावे तो कोई परवाह नहीं करनी चाहिए। किसी ग्रन्थ में ऐसा नहीं लिखा है कि जिस कार्य से अधिक स्वार्थ सिद्ध हो, वह अधिक महत्त्व का है। हाँ, इतना सब जगह लिखा मिलता है कि आत्यन्तिक कल्याणकारक यानी मोक्ष-प्राप्ति कर देनेवाला कार्य सबसे अधिक महत्त्व का है। अब कोई कहे कि मोक्ष भी तो एक बड़ा भारी स्वार्थ है। परन्तु मोक्ष-संपादन के साधनों की ओर ख़याल देने से यह शङ्का दूर हो जाती है। विद्वान् ऋषि कहते आये हैं कि परोपकार ही पुण्य और लोक-कल्याण ही धर्म है यानी मोक्ष का साधन है *। फिर क्या इस कार्य को भी स्वार्थ कह

---

*धर्मो जगत्कल्याणधारकः। दत्तदासकृतवैदिकसूत्राणि।

सकते हैं ? महत्त्वामहत्त्व का एक उदाहरण देता हूँ। साधु-वर्य तुकाराम कहते हैं:—

माता-पिता केवल काशी हैं। इसलिए माता-पिता-वाले को तीर्थस्थानों को नहीं जाना चाहिए। इसलिए सावधान होकर नारायण का हृदय में ध्यान करो। माता-पिता ही सब देवों के स्वरूप हैं।

परन्तु वे ही दूसरी जगह कहते हैं कि यदि माता-पिता के कारण किसी प्रकार परमेश्वर की सेवा में विघ्न हो तो उन्हें भी त्याग देना चाहिए। माता-पिता की आराधना से परमेश्वर का महत्त्व अधिक है। इसी न्याय से लोककल्याण के समान अत्यन्त महत्त्व के कार्य के समय दूसरे व्यवहार कार्य गौण हों तो उनका अधिक विचार नहीं करना चाहिए। देश-कार्य के विषय में लोककल्याण ही मुख्य उद्देश रहता है, इसलिए माता-पिता के संतोष से देशकार्य अधिक महत्त्व का है। तथापि देशहित की कोरी गप्पें करके सब कर्तव्य से च्युत होना ठीक नहीं। आज-कल देश-हित के बहाने निरुपयोगी बातें करनेवाले लड़कों की संख्या बहुत बढ़ गई है। इनसे देश का कोई कार्य नहीं होता, परन्तु इन्हें व्यर्थ घमण्ड बना रहता है कि देश-कार्य के लिए माता-पिता, अपनी मिल्कियत और अपनी नूतन परिणीता भार्या का भी त्याग हमने कर दिया! उनके दर्पोद्गार हमेशा सुनाई देते हैं कि हमने देश-कार्य के लिए सर्वत्याग कर दिया

है ! परन्तु ये मूर्ख नहीं समझते कि देशहित कुछ नदी का पानी नहीं है कि चाहे जितना भर ले आओ । गत आठ दस साल में देश-कार्य के लिए सर्वस्वत्याग करनेवाले पाई के तीन मिलते थे । परन्तु अब उनका मुँह कहाँ छिपा है सो मालूम नहीं । इन सस्ते देश-हित रक्षकों ने केवल अपने अपने माता-पिता के असंतोष का लाभ ही पाया है और कुछ नहीं । हाँ, दो दोष के मालिक वे बन बैठे हैं । देशहित का व्रत स्वीकार करने पर उसे बीच ही में छोड़ दिया यह एक और माता-पिता को असंतुष्ट किया यह दूसरा । सारांश, महत्त्वामहत्त्व का विचार करके अपना कर्त्तव्य निश्चित करना ठीक है ।

"इन सब व्यवहार कार्यों के करते हुए एक महत्त्व का काम करते रहना चाहिए । वह यह कि परात्पर पिता, इस सब ब्रह्मांड का मालिक और पालक परमेश्वर ही अपना हो सकता है और अन्य कुछ नहीं, इस दृष्टि से उसका हमेशा स्मरण करना चाहिए । इसी से निष्काम कर्म का श्रीगणेश बन आवेगा ।"

"अब तुझे गीता में बतलाये वर्णधर्म का विचार बतलाता हूँ । पहले वे कैसे बने यह देखना चाहिए ।

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ॥४,१३॥

श्रीभगवान् कहते हैं, "गुणकर्म के भेदाभेद के अनुसार चार वर्ण मैंने ही बनाये ।" यह गुणविभाग सत्त्व, रज और तम गुणों के अनुसार किये हुए विभाग हैं । जो सत्त्वगुणप्रधान हो

वह ब्राह्मण है ! जिनमें सत्त्वगुण की छाया हो पर रजोगुण जिनके स्वभाव में भरा हो, वे क्षत्रिय हैं। जिनमें रजोगुण के ऊपर तमोगुण की छाया पड़ गई हो, वे वैश्य। और तमोगुण प्रधान सो शूद्र, परन्तु इस तमोगुण में रजोगुण की कहीं कहीं छाया रहती है। इनके कर्म अठारहवें अध्याय में बतलाये हैं। उनका भी उल्लेख करता हूँ।

"तू ब्राह्मण है इसलिए ब्राह्मण का कर्म तुझे करना चाहिए। परन्तु मैं जाति और वर्ण एक नहीं समझता। क्योंकि वर्ण गुणविभाग से निश्चित होते हैं। इसी लिए सत्त्वगुण-विशिष्ट पुरुष अगर शूद्र कुल में उत्पन्न हो, तो भी वह ब्राह्मण ही है, और तमोगुणी अगर ब्राह्मणकुल में पैदा हो तब भी वह शूद्र ही है। ब्राह्मण का ब्राह्मणत्व सत्त्वगुण में है ! सत्त्वगुण ही ब्राह्मण्य है ! सत्त्वगुण ही ब्रह्मतेज है"

अहाहा ! वर्ण और जाति की भिन्नता साफ़ दिखलाई देने पर भी दुनिया को जँचती नहीं। सत्त्वगुण के बिलकुल विरुद्ध केवल तमोगुणी के योग्य कर्म करनेवाले कितने ब्राह्मण मिलेंगे ! कितनी ही मूर्तियाँ दीखने लगीं ! छिः ! छिः ! इनकी गणना नहीं हो सकती ! हाँ, ये सब ब्राह्मण ही हैं ! इनमें से यदि हज़ारों के लिए पहचानने की शर्त लगाई जाय तो ब्राह्मण न कहलानेवाला जीत जावेगा। फ़ी सदी निन्यानवे ब्राह्मणों के मुँह पर प्रेत की छाया ! पुराणों में बताया ब्रह्मतेज है कहाँ ?

सत्त्वगुण है हो नहीं तो वह कहाँ से दृष्टि आवेगा ? कितने पापी पड़े हैं, परस्त्रीवंचक, परधनापहारी, कन्याविक्रयी ! शराब पीनेवाले, गोमांस भी खानेवाले ! अरे रे ! क्या ही दुर्दशा है। कैसी यह अधोगति है ! चाहिए उस स्त्री से व्यभिचार करो और तब भी ब्राह्मण ! लाखों व्यसनों के आगर होने पर भी तुम ब्राह्मण ! गोमाता का विक्रय करनेवाले, उसे क़साई के हाथ देनेवाले, उसका मांस भी खानेवाले ब्राह्मण हैं ! इनके पापों का नाम लेना कठिन है ! हाँ, जिह्वा अवश्य अपवित्र हो जावेगी। ये महापातकी, घोरकर्मी, खूनी, डाकू, सब ब्राह्मण ही हैं। हे भगवन्, यह कैसी स्थिति है ! मैं थोड़े काल तक चुपचाप रहा तो श्रीसमर्थ रामदास स्वामी के एक वचन का ख़याल आया—'ब्राह्मणों ने क्या किया ? स्थिति ऐसी है कि अन्न खाने को नहीं मिलता, क्यों तुम लोगों को जँचता है या नहीं ?' अच्छी तरह आज जँच चुका ! ब्राह्मणों ने क्या किया ? सूर्य और अग्नि की उपासना त्याग दी ! अरे रे ! हम ब्राह्मणों का गुरुत्व कहाँ गया ? गया कहाँ, हमने ही उसे नष्ट कर डाला ! अनेक घृणित व्यसन, चमत्कार-पूर्ण रंग-ढंग, हम पर अधिकार जमाने लगे हैं। पहले की सात्त्विक और सादी वृत्ति नष्ट हो गई। अग्निहोत्र की जगह चिलम, बीड़ी, हुक्का ! सप्ताह भजन करनेवाले जिस प्रकार वीणा नीचे नहीं रखते, जिस प्रकार अग्निहोत्री अपना अग्नि सदा प्रज्वलित रखते हैं, उसी प्रकार सदा प्रज्वलित बीड़ी मुँह में रखनेवाले ब्राह्मण

कुछ कम नहीं हैं। कोट की बटन टूटते तक दम मारनेवाले सात आठ वर्ष के लड़के भी कई मिलेंगे! प्रातःकाल का मुख-मार्जन और अर्घ्यदान 'स्ट्रांग' चाय से होता है! इस्त्रीवाले कड़-कड़ कपड़ों का महत्त्व शरीर से अधिक होगया! इस तरह हम देहवादी ही बनते चले हैं! ये बातें मामूली दीखती हैं, पर ब्राह्मणत्व का नाश करती हैं। सबसे ऊँचा हमारा ध्येय है कि अहंकार के शिखर पर चढ़ानेवाली विद्या के चक्कर से मुक्त हुए कि नौकरी। वेदाध्ययन की ओर बोदे सिरवाले एक-आध झुक गये तो ख़ैर रही! उसका भी अध्ययन कब तक? जब तक उसकी सहायता से कुछ नहीं मिलता तब तक! थोड़ा भी मिलने लगा कि फिर वह बंद! सब प्रयोग भी इन्हें आने के! श्राद्ध प्रयोग आ गया कि बस! ऐसी लज्जास्पद दशा ब्राह्मणत्व की हुई है।

स्वामी हँसने लगे। मेरे भी विचार रुक गये। स्वामी कहने लगे, "बच्चा! तुझे और कुछ देर तक विचार करने देता तो तू पागल हो जाता! यह बात सच है कि ब्राह्मणत्व की यह दशा हुई है। उसका कारण स्वधर्मत्याग है। उसी प्रकार कई लोगों का वर्ण ब्राह्मण नहीं है। यानी कई जाति से ब्राह्मण कहलाते हैं परन्तु सत्त्वगुणी नहीं हैं। अपनी जाति के नित्य कर्म करते समय सत्त्वगुण शरीर में पैदा करने का प्रयत्न करना चाहिए।

"अपना वर्ण जानने के लिए अपना गुण जानना आवश्यक है। यह जानने के लिए जग में जो हम ढोंगी बर्ताव करते हैं,

इसे छोड़ एकांत में आत्म-परीक्षा करना चाहिए । आत्म-परीक्षा में इस बात को ढूँढ़ना चाहिए कि हमारे कर्म किस गुण के योग्य हैं और हमारा ज्ञान किस प्रकार का है । फिर निश्चित करना चाहिए कि हम सात्त्विक हैं या राजस या तामस । परन्तु परीक्षा के लिए सबसे सरल युक्ति आहार-परीक्षा है । श्रीभगवान् ने इन तीन गुणों के प्रिय आहार अलग अलग बतलाये हैं ।

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः ।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः ॥१७,८॥
कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकभयप्रदाः ॥१७,९॥
यातयामं गतरसं पूतिपर्युषितं च यत् ।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥१७,१०॥

मीठे, सरस, अच्छे पके हुए, छोटे और मृदु पदार्थ सात्त्विकों को प्रिय हैं । ये पदार्थ जिह्वा को मीठे लगते ही हैं, पर अन्तःकरण को भी हितकारक होते हैं। वे सरस रहते हैं और खानेवाले की शक्ति बढ़ाते हैं । दीखने को छोटे परन्तु फ़ायदेमंद रहते हैं । मृदु रहने के कारण भक्षक का भी हृदय मृदु रखते हैं । परन्तु मौक़े पर वे वज्र से भी अधिक कठोरता उत्पन्न कर सकते हैं ।

कालकूट के समान विषहरे परन्तु उससे अधिक भी कड़वे, चूने से भी दाहक, खट्टे, निमकीले, अत्यंत तीखे, रसहीन, राख के समान सूखे पदार्थ राजसगुणी को प्रिय होते हैं। यह आहार खाना यानी आग ही निगलना है। नहीं, ये रोगरूपी सर्प ही पेट में जाते हैं, और फिर उनके पचाने के लिए मद्यादि मादक पदार्थ और भरना पड़ता है !!

दो चार प्रहर बीतकर बासी होगया हो, कुल्हाड़ी से भी न फूटता हो, अधपका हो, अत्यन्त दुर्गन्ध आती हो, सूखा हो, सड़ गया हो, जूठा हो, ऐसा अन्न तामस लोगों को ही प्रिय होता है। इतना पूछने की भी आवश्यकता नहीं कि इन्हें मांस और मादक पदार्थ प्रिय हैं या नहीं ! तामस यानी बाघ ही जानो। उतना ही दुर्गन्धियुक्त अन्न इन्हें चाहिए। फिर उसके परिणाम के विषय में क्या पूछना है ! छिः ! उसका स्पर्श भी न हो। उन लोगों की हवा भी दूसरे को तामसी बना देती है।

"अन्नाद्भवन्ति भूतानि—सब प्राणिमात्र अन्न से बना है। प्राणियों में भिन्नता रहती ही है। यह भिन्नता अन्न के कारण उत्पन्न होती है। अन्न से ही स्वभाव बनता है। इसका वर्णन छांदोग्योपनिषद् में दिया है।

अन्नाद्यमशितं त्रेधा विधीयते तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तत्पुरीषं भवति यो मध्यमस्तन्मांसं योऽणिष्ठस्तन्मनः।
छांदोग्य० ६, ५, १॥

खाये हुए अन्न के तीन भाग होते हैं। स्थूल भाग विष्टा-रूप होता है, मध्यमभाग का मांस बनता है, और सूक्ष्म भाग वायुरूप होकर उसका मन बनता है। अन्न न खाने से मनन-शक्ति नष्ट होती है, उसका यही कारण है। जिस प्रकार आहार होगा वैसा मन बनेगा और मन की दशा ही स्वभाव है। स्वभाव के अनुसार बर्ताव होगा और आचरण के अनुसार फल मिलेगा। इसलिए अपना गुण और तदंगभूत वर्ण जानना हो तो यह देखना चाहिए कि इनमें से कौन-सा आहार हमें प्रिय है।

अब थोड़ा-सा समय मिला तो मैं अपने आहार की परीक्षा करने लगा। मुझे अच्छे तेज पदार्थ चाहिए। अच्छी मिरची पड़ी हो ऐसा तेलमय अचार, तेल-मसाले से बनी हुई प्याज़-लहसन की तरकारी! खुरखुरी पकौड़ी! ऐसे मेरे प्रिय पदार्थ! इसी जिह्वा ने मेरा ब्राह्मणत्व नष्ट कर डाला! हमारी जिह्वा को अभक्ष्य भक्षण की और अपेय पान की आदत लग गई और तब भी नाम को शरम नहीं मालूम होती! बड़े बड़े शहरों के फ़ैशनेबल उपहार के भव्य दूकानों में घुसते हुए असंख्य ब्राह्मण मिलते हैं। वहाँ चाहे जिसके जूठे बर्तन में चाय, प्याज़ की पकौड़ी, सोडावाटर इत्यादि पदार्थ चर्म-वाहन धारण किये गले के नीचे भेजते हुए कितने ही ब्राह्मण दृष्टि आवेंगे! परन्तु वहाँ भी 'यहाँ की चाय स्ट्रांग नहीं है' ऐसा कहनेवाले कई सखी के लाल मिलेंगे। असली विलायती शराब की दूकान से उन्मत्त होकर कई ब्राह्मणों ने अपने शरीर

सड़कों की नालियों में पवित्र कर लिये हैं ! ब्राह्मणों का ब्राह्मणत्व—उनका गुरुपन—इन्हीं बातों में रहा है। दशग्रंथी वैदिक मुँह में बीड़ी धरके उसके धुएँ के साथ वेदाक्षर हवा में उड़ाते हुए पाये जावेंगे। तमाखू की गोली भरके वेदपठन करते समय अपने ग्रंथों को शुभ कुङ्कुमवर्ण से अलंकृत करते हुए कई ब्राह्मण दृष्टि आवेंगे ! फिर ऐसे ब्राह्मणों का कौन सम्मान करे ? अब ब्राह्मणों का काम बचा नहीं, ब्राह्मणों की वृत्ति स्वधर्म से नहीं चल सकती, उन्हें कोई अब पूछता नहीं, गृहस्थियों की कितनी भी हाँ जी हाँ जी करो तब भी जीवन चलना कठिन हो जाता है। इस प्रकार उलटी बातें करनेवालों ने इस विषय में सोचा है क्या कि यह दशा क्यों प्राप्त हुई ? जो हमारे पैरों पर अपने शरीर लोट देते थे, वे ही अब कुछ नहीं समझते कि हम ऐसे राख के ढेले क्यों बन गये ? सत्य को त्याग दिया और जिह्वालौल्य के पीछे पड़े, इसी लिए यह दशा हुई। पानी के नल पर हम अपनी पवित्रता दिखलाने लगे तो कोई आश्चर्य की बात नहीं ! यदि कोई शूद्र कहे कि 'रहरे बम्मन। महंमदखाँ के दूकान में सोडा-फोडावाटर पीता था नहीं।' तो कौन सा अपमान है ? इसके लिए हमने आपको पात्र बना ही लिया है ! फिर बुरा मानने का क्या कारण है ? अब तो भी ब्राह्मणों को चाहिए कि कुछ बुद्धि दिखलावें और अपना आहार सत्वगुणी बनावें !

स्वामी बोलने लगे, "हाँ यही पहला उपाय है। छांदोग्य-उपनिषद् में बतलाया है, "आहारशुद्धौ सत्वशुद्धिः"। परन्तु

अपना आहार जिस गुण का हो, उस गुण के कर्म भी हमको करना उचित है। श्रीभगवान् ने यह इसलिए बतलाया है कि इन कर्मों के करनेवाले का झुकाव धीरे धीरे सत्त्वगुण की ओर हो जाता है। सत्त्वगुण का फल ज्ञान है। इसी लिए बिना सत्त्वगुण के कोई भी मोक्ष-मार्ग नहीं पा सकता। इसी लिए सत्त्वगुण की प्राप्ति कर लेने का प्रयत्न पहले करना चाहिए। अब यह देखना चाहिए कि इस गुण-विभाग के अनुसार किये हुए वर्ण-चतुष्टय के कर्म-विभाग किस प्रकार किये हैं:—

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परन्तप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥१८,४१॥

स्वभावज गुणों के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के कर्म भी भिन्न भिन्न हैं। नीलकंठ इस पर टीका करते समय लिखते हैं:—

तस्माद्यस्मिन्कस्मिंश्चिद्वर्णे शमादयो (सत्त्वगुणकर्माणि) दृश्यन्ते, स शूद्रोऽप्येतैर्लक्षणैर्ब्राह्मण एव ज्ञातव्यः। यत्र च ब्राह्मणेऽपि शूद्रधर्मा दृश्यन्ते स शूद्र एव। तथा चारण्यके सर्पभूत नहुषं प्रति युधिष्ठिर वाक्यं 'सत्यं ज्ञानं क्षमा-शीलमानृशस्यं तपो घृणा। दृश्यन्ते यत्र नागेन्द्र स ब्राह्मण इति स्मृतः' तथा 'यत्रैतन्न भवेत् सर्प तं शूद्र-मिति निर्दिशेत्' ॥

इसलिए जिसमें शमादि सत्त्वगुण के कर्म दिखलाई पड़ें शूद्र रहने पर भी उसे ब्राह्मण ही कहना चाहिए। जिस ब्राह्मण में शूद्र-धर्म दीखता है वह शूद्र ही है। ऐसा ही अरण्यक में सर्प होकर पड़े हुए नहुष के प्रति युधिष्ठिर का कथन है। सत्य, ज्ञान, शील, क्षमा, दुष्टपन का अभाव, तप और दया जिसमें पाये जायँ वह ब्राह्मण और जिसमें नहीं वह शूद्र है। यही स्मृति-वचन है।

"अब ब्रह्मकर्म का विचार करना चाहिए।

शमो दमस्तपः शौच क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥१८,४२॥

शम, दम, तप, शूचिर्भूतता, क्षमा, कपटहीनता, ज्ञान, विज्ञान और आस्तिक्यबुद्धि ब्राह्मण के स्वभावज कर्म हैं. यानी स्वभावतः ये कर्म जिसे प्रिय हैं, वही ब्राह्मण है। शम यानी शांति या मनोवृत्ति का निग्रह, दम यानी कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रियों का दमन। तप तीन तरह का है। और यह सबका सामान्य धर्म है, इस कारण इसका विवेचन तुम्हे इसके बाद बतलानेवाला हूँ। शूचिर्भूतता यानी बाह्य स्वच्छता और अन्तरङ्ग शुद्धि (सत्यादि शीलगुणों से होनेवाली)। ज्ञान यानी शास्त्रों का ज्ञान, विज्ञान यानी अनुभवप्राप्त ज्ञान। आस्तिक्य यानी परलोक में विश्वास रखना। क्षमा-गुण दुर्बलता का दर्शक नहीं है। क्षमा करना यानी दुष्कृत्यों का

प्रतिकार करने की शक्ति नहीं है इसलिए चुपचाप बैठना नहीं है। बल्कि उसका प्रतिकार करने की शक्ति रहने पर भी, 'शापादपि शरादपि' समर्थ होने पर भी, चुपचाप छोड़ देना ही क्षमा करना है। ये गुण बढ़ानेवाले अथवा ये गुण शरीर में पैदा करनेवाले कर्म ब्राह्मण-कर्म हैं। मनु ने ये बतलाये हैं— "वेद, शास्त्र, पुराण का अध्यापन और अध्ययन, यज्ञ करना और कराना, दान लेना और देना।" इसमें 'यज्ञ' के विषय में मुझे बहुत कुछ बतलाना है। इसके सिवाय सर्व वर्णों को सामान्य और हृदय में सत्त्वगुण तुरन्त उत्पन्न करनेवाले कर्म बतलाने के हैं। इस समय क्षत्रिय-कर्म बतलाता हूँ:—

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रकर्म स्वभावजम् ॥१८,४३॥

सहायता की आशा के बिना ही जैसा बेडर के गजकुम्भ पर सिंह का बच्चा कूद जाता है वैसा साहसयुक्त शौर्य गुण, सूर्यतेज से जैसे तारे फीके पड़ जाते हैं ऐसा दूसरों को फीका कर देनेवाला राजतेज, आकाश भी टूट गिरे तब भी न टूटनेवाला धैर्य, आनेवाले संकटों को जानकर उनके प्रतिकार की योजना करने की दूरदृष्टि अथवा दक्षता, सूर्यमुखी जिस प्रकार सदा सूर्य की ओर देखता रहता है उस प्रकार शत्रु को कभी पीठ न दिखलाना, सत्पात्र को दान देना, प्रजापालन करना इत्यादि क्षत्रिय के स्वभावसिद्ध कर्म हैं। मनु ने इनके

कर्म बतलाये हैं "प्रजापालन, दान, यज्ञ, अध्ययन और विषय में अनसक्तता।" इसमें ऐसी योजना है कि रजोगुण से सत्त्वगुण की ओर प्रवृत्ति हो। विषयोपभोग की इच्छा की वृद्धि करना रजोगुण का स्वभाव है। इसी लिए अनसक्तता बढ़ानी चाहिए। अब वैश्य के कर्म बतलाता हूँ।

कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।

खेती, जानवरों का पालन, और व्यापार वैश्य के स्वभावज कर्म हैं। मनु ने बतलाया है:—

पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।
वणिक्पथं कुसीदं च वैश्य कृषिमेव च॥

पशुओं का पालन, दान, यज्ञ, अध्ययन, व्यापार और खेती इत्यादि वैश्यों के कर्म हैं। इन तीनों वर्णों को मनु ने वेदाध्ययन का अधिकार दिया है। ये तीनों वर्ण यदि अपने कर्म ठीक ठीक करें तो जन्मजन्मान्तर में सत्त्वगुणी होकर वे मुक्ति प्राप्त कर सकेंगे। शूद्र के कर्म बतलाये हैं:—

परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥१८,४४॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य नामक तीनों वर्णों की सेवा करना शूद्र का सहज कर्म है।

"क्षत्रिय और वैश्य के आहार रजोगुणी बतलाये हैं। तथापि उसमें कुछ भेद हैं। परन्तु इससे उनका पृथक्करण ठीक

नहीं हो सकता। इसलिए कर्म-परीक्षा की सहायता लेना ठीक है। सत्त्वांशयुक्त रजोगुण क्षत्रियों में रहता है। यानी वे राजस कर्म—पापमूलक रहने पर भी—करते हैं। परन्तु उनके सब कर्मों का मूलहेतु प्रजारक्षण रहता है। यह उनके गुण का सत्त्वांश है। वैश्य का तमोंऽशयुक्त रजोगुण यानी उनके कर्म सहेतुक, अहंकारयुक्त, और मेहनत के होते हैं, परन्तु उनमें कपट और लोगों को ठग कर स्वार्थ साधने की इच्छा रहती है, वही तमोगुण का अंश है। इस रीति से उनके कर्म और हेतु का सूक्ष्म विचार किया तो वर्ण-भेद का ज्ञान होगा।

यदि इस वर्ण-धर्म का विचार करें तो यह देख पड़ेगा कि शरीर में सत्वगुण पैदा करने का प्रयत्न करना ही इस धर्म का सार है। यह एक जन्म में सिद्ध नहीं हो सकता, अनेक जन्म में सिद्ध होगा। उच्च कुल में पैदा हुए, परन्तु कर्म और आहार से यदि तामस रहे तो तद्गुण-विशिष्ट सेवाधर्म करने में शरमाना ठीक नहीं। यह अपने फ़ायदे की बात है। हीन वर्ण में भी पैदा होकर यदि सत्त्वगुणी हो तो बड़ा भाग्यवान् कहना चाहिए। किसी पूर्वपाप के कारण हीन जाति में किसी का जन्म हुआ हो तो उसे ख़याल रखना चाहिए कि पूर्व पुण्य के कारण ही मैं सत्त्वगुणी हुआ हूँ। और उसे अपना जाति-धर्म—वर्ण-धर्म—निष्काम करते रहना चाहिए। शूद्र सत्त्वगुणी हुआ तो भी उसे ब्रह्मकर्म करने का अधिकार नहीं। ऐसा शास्त्र-वचन है। मेरा

कहना यह है कि वैसा अधिकार भी रहने से क्या करने का है? धर्माचरण का कार्य—सत्त्वगुणी होना—उसे पहले ही सिद्ध है। इसके सिवाय, जिस पाप के कारण वह हीन वंश में पैदा, उस पाप का सत्त्वगुण से नाश होता है; और उसके स्वधर्माचरण से यदि उसकी मोक्ष-प्राप्ति की तैयारी न हो तो उच्च कुल में पुन: जन्म मिलता है।

"अपने अपने वर्ण के विहित कर्म करने से कर्म-दोष नहीं लगता। अपना कर्म सांगोपांग करनेवाला ब्राह्मण और स्वकर्म-निष्णात शूद्र दोनों समान योग्यता के हैं। उन्हें स्वकर्माचरण से ही ज्ञान-विज्ञान की प्राप्ति होती है। इसके लिए व्याधगीता का उत्तम उदाहरण है। एक संन्यासी ने देखा कि अपने देखने से जंगल की एक बकी भस्म हो गई, तो अहंकार से फूल उठा, परन्तु उसने जब एक पतिव्रता का भूतज्ञान देखा तो आश्चर्य-चकित होगया। उसी की आज्ञा से उस ज्ञान का साधन जानने के लिए वह एक व्याध के पास गया तो उसने बतलाया "योग: कर्मसु कौशलं।" उसने कहा, "मेरा जाति-धर्म यानी मांस-विक्रय, मेरा वर्ण-धर्म यानी सेवा, पुत्र-धर्म यानी मातृपितृसेवन और उत्पत्ति-धर्म यानी ईश्वरोपासना मैं निष्काम करता हूँ।"

स्वामी ने देखा कि मेरे मन में कुछ विचार आ रहे हैं तो वे रुक गये। पहले तीन वर्णों के धर्म स्वाभाविक ही प्रिय हैं। परन्तु शूद्र-कर्म के विषय में यह बात घटित नहीं होती। तमोगुणी शूद्रों को कभी न इच्छा होगी कि मैं सेवा करता रहूँ।

परन्तु वृत्ति के लिए कोई दूसरा मार्ग न रहने के कारण उसे वह करनी पड़ती है । फिर जो सेवा-वृत्ति योगियों से भी नहीं सधती, इससे उनका तमोगुण धीरे धीरे नष्ट होता है और वे पहले रजोगुणी और फिर सत्त्वगुणी बनते हैं । तमोगुण के जाने पर रजोगुण यदि पैदा हुए तो रजोगुणविहित कार्य करते सात्त्विकों की सेवा करनी चाहिए और इस प्रकार अपनी उन्नति उसे कर लेनी चाहिए ।

स्वामी बोल उठे, "अब तुझे जँच गया होगा कि श्रीभगवान् सबके कल्याण-धाम हैं । अब सोचना चाहिए कि गीता में और कौन कौन कर्म बतलाये हैं ।

यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ॥३,९॥

यज्ञ यानी—देवपूजा—विष्णु-होम (देवयज्ञपितृयज्ञादि पंच महायज्ञ) के लिए जो कर्म करने पड़ते हैं वे बंधनकारक नहीं होते । इसलिए हे अर्जुन ! फलाशा छोड़ कर यज्ञार्थ कर्म करते जा । क्योंकि—

यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥४,२३॥

यज्ञार्थ जितने कर्म किये, उन सबका लय हो जाता है, कर्त्ता को बंधन-कारक नहीं हो सकते । अब मैं बतलाता हूँ कि श्रीभगवान् ने किन किन कर्मों को यज्ञ कहा है, देवतायज्ञ, ब्रह्मयज्ञ, संयमाग्नि में इंद्रिय कर्मों के हवन का यज्ञ, द्रव्ययज्ञ,

योगयज्ञ, ज्ञानयज्ञ, स्वाध्याययज्ञ, ऐसे कई यज्ञ हैं। स्वधर्माचरण भी यज्ञ है और वह योग्य है। क्योंकि श्रीभगवान् ने कहा है कि स्वधर्माचरण से ईश्वरपूजा होती है। और यही यज्ञ सबसे सरल है। श्रीभगवान् ने कुछ सामान्य कर्म भी बतलाये हैं जैसे (कायिक, वाचिक और मानसिक) तप, भूतदया और अव्यभिचारिणी ईशभक्ति इत्यादि। अब तप का विचार करना चाहिए।

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥१७,१४॥

देव-ब्राह्मण-गुरु (वयोवृद्ध और माता-पिता) विद्वान् की पूजा करना, अंतर्बाह्य शुद्ध रहना, निष्कपट बर्ताव करना, शरीर-बल का मुख्य साधन यानी ब्रह्मचर्य पालन करना, हिंसा न करना, इत्यादि शारीर तप हैं। हिंसा न करने में भूतदया भी शामिल है।

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥ १७,१५॥

सत्य, हितकारक और किसी के भी मन को कष्ट न पहुँचाने-वाला भाषण करना और स्वधर्म का अध्ययन करना वाङ्मय तप है। भाषण यदि थोड़ा सा मन में चुभ भी जावे परन्तु हितकारक हो, तो उसमें कोई दोष नहीं।

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥ १७,१६॥

मन की प्रसन्नता, मृदुता, मौन, आत्मसंयमन और मन की शुद्ध वृत्ति रखना मानसिक तप है।

मुझे कौन कौन भक्त प्रिय हैं, यह बतलाते समय श्रीभगवान् ने छोटे मोटे भी कर्त्तव्य बतलाये हैं। उसमें जो 'अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्'' बतलाया है, उससे अपना यह भी धर्म हो जायगा कि दुष्टों का प्रतिकार नहीं करना चाहिए। परन्तु भूतदया की दृष्टि से सूक्ष्म विचार किया तो दुष्टों का नाश करना अपना निश्चित कर्तव्य होगा। धर्म की एक परिभाषा है 'जगत्कल्याणकारकः'। इस दृष्टि से यह भी धर्म होगा कि दुष्टों का प्रतिकार—वह थोड़ा बहुत घोर कर्म सा दीखे तो भी करना चाहिए जिसमें अनेकों का कल्याण है।

"अब सबसे बड़ा कर्म और जो सबको सदा करना चाहिए, वह ईश्वरोपासना है। किसी भी सगुणरूप में उसकी पूजा करो, सब उसे पा जाती है। परमेश्वर समर्थ है, फिर किसी भी रूप में उसकी पूजा करो। पूजा में कुछ भूल हो तो श्रद्धा ठीक रखना चाहिए। सब कर्म सदोष हैं इस न्याय से स्वधर्माचरण करते समय कुछ दोषयुक्त कर्म होते होंगे। परन्तु हम निर्दोष हैं ही कहाँ ?

कर्मदोष का बंधन न हो, इसके लिए श्रीभगवान् ने बतलाया है—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥ ९,२७॥
शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।

'तू जो कुछ करता है, खाना-पीना, होम-हवन करना, दान करना, तप करना इत्यादि इत्यादि सब कुछ, हे अर्जुन, तू मुझे अर्पण कर। तब तू उनके शुभाशुभ बंधनों से मुक्त होगा। मन की एकाग्रता साधकर यदि अभ्यास से मुझे पाने की शक्ति तुझमें न हो तो, हे पार्थ, तू सब कुछ मेरे लिए किया कर। परन्तु यह अर्पण करना भी सरल काम नहीं है। सब बुराइयों का मालिक तो हम ईश्वर को बनाते हैं, परन्तु अच्छी बातों के समय उसका स्मरण भी नहीं रहता। गोहत्या का पाप करनेवाला उस दोष को परमेश्वर पर झोंक देता है, परन्तु ब्राह्मण-भोजन के करते समय वही अपनी छाती पर हाथ धर कर कहता है कि मैंने किया है। यदि यह भी न हो तो—

सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान्॥१२,११॥
श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्॥१२,१२॥

सर्वकर्मों के फलों का त्याग कर। फलेच्छा की ओर मन को न जाने दे। क्योंकि अभ्यास से ज्ञान श्रेष्ठ, ज्ञान से

ध्यान श्रेष्ठ, और ध्यान से कर्मफलत्याग श्रेष्ठ है। क्योंकि उसी से हमेशा शांति प्राप्त होती है।

"यह सिद्ध हो चुका है कि स्वधर्माचरण ही ईश्वरोपासना है। हमें यही कर्म करना चाहिए। प्राकृतिक भिन्नता स्वाभाविक होती है और प्रत्येक मनुष्य भिन्न भिन्न मार्ग से जावेगा, इसलिए हमारे ऋषियों ने चार आश्रम नियत किये हैं। उनके धर्म-ग्रन्थों में वे मिलेंगे। श्रीभगवान् बतलाते हैं कि कर्म करना ही चाहिए—

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥ ४, १५॥

पूर्वकाल में सब मुमुक्षुओं ने भी 'कर्म आत्मा को, परमेश्वर को, बन्धन नहीं हो सकता' यह जान कर कर्म किया है। इसलिए उनका किया हुआ कर्म तू भी कर। इन पूर्वकालीन मुमुक्षुओं के कर्म कहाँ मिलेंगे? भारत, रामायण इत्यादि ग्रन्थों में, पुराणों और उपनिषदों में, भरपूर उनका वर्णन मिलेगा। हमारा कर्तव्य है कि उन्हें देखें और तद्वत् आचरण करें।

यह कर्मवाद इतना गहन है कि इसके लिए अनेक ग्रन्थ लगेंगे और अनेक जन्म यथेष्ट न होंगे। इसलिए जग के सब उत्तम ग्रंथ ध्यानपूर्वक पढ़ो। नाटक, उपन्यास, पुराण, शास्त्र, कोई भी अच्छा ग्रंथ लो, सबमें 'कर्म कैसे करना

और कौन करना' इसी का निर्णय मिलेगा। ऊपरी उपकरण की ओर दृष्टि जाने से उनके सार की ओर ख़याल नहीं रहता। सिवा इसके, काम बहुत और समय थोड़ा। इस-लिए जिन ग्रंथों के परिशीलन से शीलशुद्धि होकर ध्येय के ज्ञान की प्राप्ति हो, उन्हीं को पढ़ना ठीक है। अच्छे ग्रंथों के लक्षण श्रीसमर्थ रामदास स्वामी बतलाते हैं:—

"जिनसे परमार्थ की वृद्धि हो, शरीर में अनुताप आवे, भक्तिसाधन अच्छे लगें, उन्हें ग्रन्थ कहना चाहिए। जिसके सुनने से गर्व दूर हो, भ्रांति नष्ट हो जाय, भगवान् में सतत मन लगे, उपरति हो, अवगुण बदल जावें, अधोगति से बचें, उन्हें ग्रन्थ कहना चाहिए। जिनसे धैर्य बढ़े, परोपकार करने की ओर प्रवृत्ति हो, विषयवासना नष्ट हो, उन्हें ग्रन्थ कहना चाहिए। जिनसे परलोक सिद्ध हो, ज्ञान मिले, हम पवित्र हों, उन्हें ग्रन्थ कहना चाहिए।"

अब तू ही विचार कर कि आज कल मुद्रणालयों से गट्ठों के गट्ठे जो ग्रन्थ निकलते हैं, वे इस लायक़ हैं या नहीं? क्या वे हमें अधोगति से बचा सकते हैं? वे अधोगति को ले जानेवाले हैं यह निर्णय करने के लिए भी संस्कारशुद्ध मन चाहिए। नहीं तो वे ही अच्छे कहे जाते हैं।

"ऐसे किसी काम में हाथ मत लगा जो तेरी शक्ति के बाहर हो। जब तक मन में धनतृष्णा है तब तक धन

मिलाने का व्यवसाय कर, एकदम यदि तू उस तृष्णा का त्याग करने का प्रयत्न करेगा तो फँस जावेगा। धन मिलाने के लिए तू इंद्रिय व्यापार नहीं करेगा परन्तु तेरा मन 'पैसा पैसा' करते असंतुष्ट रहेगा। द्रव्य-प्राप्ति का तू प्रयत्न कर। उससे उस मार्ग के कष्ट मालूम हो जावेंगे और तुझे जँच जावेगा। उसकी प्राप्ति के बाद तेरा मन उससे हटेगा। श्रीसमर्थ को एक बार खीर खाने की इच्छा हुई, तब उन्होंने इतनी खीर खाई कि खीर देखते ही उलटी मालूम हो।

"ये सब कर्म कैसे करना चाहिए इसका रहस्य पूर्णतया तू अपने मन में रख। कर्त्तव्य समझ कर कर्म कर। उसकी आसक्ति और फलेच्छा त्याग दे। त्याग और संन्यास एक ही बात है। काम्य कर्मों का न्यास संन्यास है और फल-त्याग ही त्याग है॥ १८, २॥

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ॥१८,४९॥

इसलिए असक्तबुद्धिपूर्वक कर्म करने से निष्कर्मता की सिद्धि होती है। शरीर में सत्त्व पैदा करना असक्त बुद्धि से कर्म करते आने की शक्ति है। यही हमारा ध्येय है। यह सत्त्व प्राप्त होगया तो फिर—सर्वत्र सर्वदा सच्चिदानंद !!!"

ग्यारहवाँ परिच्छेद

उपसंहार

मेरी आँखों के अश्रु उस दिन भर सूखे नहीं । मैं सवेरे नमस्कार करने गया तब ही स्वामीजी ने अपना मूर्त अवतार त्यागने की बात बतलाई । मुझे कितना दुःख हुआ होगा इसकी स्वयं पाठकों को कल्पना करनी चाहिए । नाना प्रकार से स्वामीजी ने मेरा समाधान करने का प्रयत्न किया । परन्तु मेरा दुःख कम नहीं हुआ । आखिर वह काल मुझे जी भर कर रोने को दे दिया, और मध्याह्न कर्म और फलाहार के बाद उन्होंने अपनी तैयारी करना शुरू की । पहले ही मुझे उन्होंने मेरे साथ हमेशा अपने अदृश्य रूप से रहने का वचन दिया था । उससे मेरा कुछ शोक दूर हुआ, फिर प्रत्येक ग्रंथ पढ़ते समय एकान्त सेवन करने को बतलाया । वे बोले, "विचार से मनोबल बढ़ता है, और ज्ञानोत्पत्ति होती है । विचार के लिए एकान्त आवश्यक है । इसलिए सांसारिक झगड़ों में से थोड़ा समय बचा कर विचार में लगाना चाहिए । शंकराचार्य, गुरुवर्य रामकृष्ण परमहंस, रामतीर्थ, तुकाराम, महात्मा बुद्ध इत्यादि सब साधु-संत एकांत में विचार करने से ही साधु-संत हुए हैं । बारह महीनों में से एकाध मास यदि किसी निर्जन देवस्थान में काटते बने तो बहुत ही अच्छा ।

रज और तम नष्ट करने के लिए कुछ तप करना चाहिए। ईश्वरनामस्मरण, गायत्रीपुरश्चरण, अथवा जप यदि निष्काम और निर्विघ्न करते आया तो सबसे उत्तम है।

निष्काम स्वधर्माचरण करने को सीख कर पहले हमें सात्त्विक कर्त्ता बनना चाहिए। कर्म-फल-त्याग करके सात्त्विक कर्म-त्याग करना चाहिए। तब सात्त्विक ज्ञान प्राप्त होगा। परन्तु यह अच्छी तरह ख़याल रखना चाहिए कि सत्त्वगुण के भी बंधन में पड़ना ठीक नहीं। क्योंकि श्रीकृष्ण भगवान् का सिखापन है कि—

'निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन'—हे अर्जुन, तू त्रिगुण-रहित हो। २, ४५।

'ज्ञानोत्पत्ति होने पर यह बंधन अपने आप दूर हो जाता है। ज्ञानी ज्ञाननिष्ठावान् होता है। अनेक प्रयत्नों से ज्ञान-निष्ठा के कारण अहंकार, दुराग्रह, दर्प, काम, क्रोध, परिवारा-सक्ति उसे छोड़नी पड़ती है। फिर वह निर्मम और शांत होता है। इस प्रकार से उसे आत्म-शुद्ध ब्रह्म अपने में ही जानने की शक्ति आती है। यह ज्ञान मिला कि आत्मा सदा प्रसन्न रहता है। फिर इच्छा द्वेष नहीं रहते और प्राणि-मात्र उसे एक समान दीखने लगते हैं। मेरे विषय में उनके मन में श्रेष्ठ भक्ति उत्पन्न होती है। फिर उन्हें मैं हमेशा भक्तिप्रिय समझता हूँ" (गी० १८,५३-६४) फिर श्रीभगवान् बतलाते हैं—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥१८,६५॥
सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहन्त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥१८,६६॥

"हे अर्जुन ! तू कितना भी नहीं नहीं कह परन्तु प्रकृति तुझे करने को लाचार करेगी ही। इसलिए स्वधर्माचरण कर, और ऐसा समझ कि वह सब मेरे लिए है। इस कर्माचरण से जो ज्ञान प्राप्त होगा वह तुझे बतावेगा कि "तू मुझमें मन रखनेवाला, मेरा भक्त, मेरा पुजारी, मुझे नमस्कार करने-वाला हो। जिससे तू मुझमें आ मिलेगा। तू मुझे प्रिय है। सब धर्माचरण करने के बाद ज्ञानप्राप्ति होने पर वह सब छोड़ दे और मेरी शरण आ। मैं तुझे सब पापों से मुक्त करूँगा। अब दुःख करना छोड़ दे।"

"ज्ञान उत्पन्न होने के लिए जो श्रद्धा और भक्ति आवश्यक है, वह अपने में सदा रहनी चाहिए। फिर ज्ञान प्राप्त होने पर भी ज्ञानोत्तर भक्ति मोक्ष-साधन के लिए अवश्य चाहिए। इसका एक मज़ेदार उदाहरण बतलाता हूँ। चावल से दो अर्थ होते हैं:—एक तो धान से भूसा निकालने के बाद जो रहता है वह चावल, दूसरा आग पर यही पकाया हुआ चावल भी चावल कहलाता है। पहला चावल उदरपूर्त्ति नहीं कर सकता, पर दूसरे के लिए आवश्यक है। यही बात भक्ति की है।

"गीता के प्रत्येक श्लोक के विषय में अधिकाधिक विचार करने से जो भी अधिक ज्ञान प्राप्त होता जायगा, तो भी गीता का मुख्य सिद्धांत कर्मयोग ही है। गीता का बताया कर्मयोग यही है कि स्वधर्म कर्म का निष्काम आचरण कर। यह अर्जुन को जँचा और उसने वैसा आचरण किया; तू भी वही कर। तुझे भी अपने कर्त्तव्य करने चाहिए और इसलिए फिर से तुझे अपनी जन्मभूमि में जाना चाहिए। अपने वृद्ध माता-पिता को, अपने रिश्तेदारों को, अपने गुरुजनों को, अपने निर्मल आचरण से संतुष्ट कर। बच्चा! माता-पिता को पार्वती-परमेश्वर ही जान। उन्हें दुःख देना यानी अपने लिए नरक का द्वार ही खोलना है। जा, जा, जितना अधिक तू उनसे दूर रहेगा उतना उनका दुःख बढ़ता जायगा और उससे तेरे दुःख का साधन तैयार होगा। इसलिए घर जाकर उनके चरण धर और उन्हें सुख दे।"

स्वामीजी का 'जा' कहना मुझ पर मानों वज्रही गिरा। इतने दिन स्वामीजी ने अपने सुखद सहवास और उपदेश से मेरा मन मोह डाला था। इसलिए वह उन्हें एक-दम त्यागने को तैयार न था। कई बार मेरी आँखों में पानी भर आया, परन्तु इस तरह पानी भर जाने से मुझे दीखेगा नहीं और उसी क्षण वे अपना मूर्तावतार समाप्त कर देंगे इस डर से अपने आँसू मैं किसी प्रकार रोक लेता था, कितने ही बार मेरे मन में आया कि कहूँ कि 'तुमही मेरे माता-पिता, बंधु, आप्त सब कुछ

हो ! तुम्हारी सेवा ही मेरा धर्म है ।" मैं अपनी दृष्टि स्वामीजी से नहीं उठाता था । पलक भी बड़े डर डर से ही लगाता था । मैं जानता था कि उतना भी समय स्वामीजी को अदृश्य होने के लिए यथेष्ट है । यदि माता कहीं गाँव जानेवाली हो तो लड़के को यह डर बना रहता है कि वह मुझे कदाचित् अपने साथ न ले जावे । इस कारण सबेरा होने तक जागने का प्रयत्न वह करता है । उसका यह प्रयत्न सफल नहीं होता, परन्तु उसे मालूम होता है कि मैं जाग सकता हूँ । ऐसी ही दशा मेरी भी हुई थी । मुझे धोखा देकर स्वामीजी अदृश्य हो सकते थे, फिर मेरे इस जागने का क्या उपयोग ? परन्तु प्रेम अज्ञ होता है !

स्वामी हँसते ही थे । वे बोले, "बच्चा ! ऐसा कितनी देर तक चलेगा । अदृश्य रूप में तेरे साथ मैं हूँ ! फिर इतना दुःख करने का कौन काम ?"

अब अपना दुख मैं न सम्हाल सका और रोने लगा:— "महाराज ! हमारी कल्पना है कि दृश्य और अदृश्य में बहुत अंतर है । निर्गुण निराकार परमेश्वर का हमें ज्ञान न होने के कारण उसका डर नहीं लगता और उस पर हमारा प्रेम भी नहीं बैठता । परन्तु वही यदि सगुणमूर्ति देखी तो हम गद्गद हो जाते हैं ! सगुण साकार के सामने अत्यंत घोरकर्मी भी झुक जाता है । देवालय में आते ही उसे अपनी पापी बुद्धि दूर करने की इच्छा होती है ! हमारी दृष्टि सगुण है ! हमें सगुण प्रिय है !!"

"शाबास ! शाबास ! ये दुःखोद्गार भी मुझे आनंद देते हैं। तुझे एक और बात बतलाता हूँ। तुझे ऐसे ही कभी कभी मूर्त दर्शन भी दिया करूँगा। अब तो हुआ ना ? अब दुःख दूर कर और हिमालय उतर कर जा। स्वजन में जाकर मेरे बतलाये हुए योग का आचरण कर। यदि उसमें तू बावन तोले पाव रत्ती बराबर निकला तो ज्ञान और मोक्ष तेरे ही हैं। श्रीभगवान् ने योग की कसौटी बतलाई है:—

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात् ।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥५,२३॥

इस शरीर के त्यागने के पहले जो यहाँ दुनियादारी में रहते काम और क्रोध से उत्पन्न होनेवाले आवेग सह सकता है, वही योगी और सुखी है। काम क्रोध की उत्पत्ति जनसंसर्ग से ही अधिक होती है। वन में किस प्रकार होगी ? जहाँ चींटी भी नहीं जा सकती ऐसे कमरे में बैठे बैठे यदि कोई कहे कि मैंने सैकड़ों बाघ मारे हैं तो हम तुरन्त हँस उठेंगे। परन्तु किसी निर्जन वन में जहाँ हिंस्र पशुओं का हमेशा डर बना रहता है वहाँ यदि कोई घूमता दीखे तो उसे कहते हैं कि वह बाघ मारनेवाला है। इसी प्रकार योग की कसौटी है। दुनियादारी में पड़े रहते जो काम-क्रोध से टक्कर ले सकता है, वही योगी है। वन में रहकर ऐसा कहनेवाला केवल शेख़ी मारनेवाला है ! अब जा, और मेरे बतलाये योग में परीक्षा देकर उत्तीर्ण हो। फिर तुझे इच्छित पारितोषिक मिल जायगा।"

मैंने स्वामीजी को अनेक साष्टांग नमस्कार किये। उस गीताश्रम का भीतर का भाग मैंने कई बार देखा, और स्वामी के साथ बाहर आया। वहाँ के वह मनोहर उद्यान, उस शिलातल, उस वेली, उस पुष्करिणी, आदि सब परिचित स्थलों के छाया-चित्र मैंने हृदय पर बना रखे, गीताश्रम को नमस्कार किया और स्वामी की ओर देखने लगा। वे लगातार हँसते ही थे। साथ आने की मेरी इच्छा उन्होंने जान ली और वे चलने लगे। मैं भी चलने लगा। कुछ दूर जाने पर मैंने पीछे लौटकर देखा तो वहाँ न गीताश्रम, न उद्यान, न कुछ और ही! मैं चकित होकर स्वामीजी की ओर देखने लगा। वे सिर्फ़ हँसे और गाने लगे:—

मन ही मारे, मन ही तारे, मन ही गुरु सहकारी है।
भौतिक आत्मिक सभी ज्ञान का केवल वह अधिकारी है॥
हैं जो जग में अद्‌भुत बातें, मन ने ही वे जानी हैं।
निज-अधीन मन शक्तिपूर्ण है, ऐसी विवेक वाणी है॥१॥

मैं भी इस गायन में मग्न होगया। 'मन ही तारे, मन ही मारे' का मुझे ध्यास लग गया। मुझे अब जँच गया कि जग के सब चमत्कार मानवी मन की शक्ति के व्यक्तरूप हैं। जब मैं इस विचार में मग्न था तो कितनी ही देर तक मालूम होता रहा कि स्वामीजी साथ ही हैं और वे गा रहे हैं। बाद भी जब जब उनके वियोग-दुःख के विचार मन में आते तो ऐसा

जान पड़ता कि वे पास ही हैं। ऐसा प्रवास करते करते और भिक्षा माँगते माँगते मैं घर आया। कई बार मैंने इस विवेक-वाणी के कीर्तन भी किये। घर में माता-पिता, दीदी और मैं जब परस्पर मिले तो क्या ही आनन्द! पाठकगण, क्षमा करें, मैं आपको उस आनन्द का भागीदार बनाने लायक़ उदार नहीं हो सकता!

विवेकाज्ञा से ही यह विवेक-वाणी आपके सामने रक्खी है। श्रीभगवान् के समान ही स्वामीजी की आज्ञा है कि अतपस्वी, अभक्त, असेवक, और मत्सरी-जनों को मत बतलाना। परन्तु ऐसे लोगों को यह पढ़ने की इच्छा ही नहीं होगी। इसलिए ऐसी मुझे आशा है कि प्रकाशित करने से उनकी आज्ञा के भंग किये का दोष मुझ पर न लगेगा।

॥ श्रीकृष्णार्पणमस्तु ॥